देवराज उपाध्याय : साहित्य शास्त्र के नये प्रश्न

देवराज उपाध्याय

साहित्य-शास्त्र के नये प्रश्न

सिद्धान्तः परख और विश्लेषण

भूमिका

विगत बीस वर्षों में हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं के साथ हिन्दी-समालोचना-शास्त्र पर भी बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है। समीक्षा की विभिन्न शैलियों के दर्शन हुये हैं। भारतीय समीक्षा-पद्धति के पक्ष-विपक्ष में भी लिखा गया है। ऐसा इसलिये भी हुआ है कि यूरोपीय साहित्यालोचन ने बहुत अधिक मात्रा में हमारे साहित्यकारों तथा समीक्षकों को प्रभावित किया है, साथ ही पुरानी आस्थाओं को कहीं-कहीं आहत भी किया है। आवश्यकता इस बात की थी, अब भी है, कि समीक्षा के वे मूलभूत सिद्धान्त खोजे जायें, जिनकी कसौटी पर एक साथ कालिदास और शेक्सपीयर को कसा जा सके। सम्भवतः इस संघर्षात्मक चिन्तन में हमारे कुछ समीक्षकों का ध्यान इस ओर भी गया है और उसके चिह्न उनकी समालोचनाओं में प्रकट हुये हैं।

डा० देवराज उपाध्याय का स्थान ऐसे समीक्षकों में ऊंचा है। उनकी समीक्षायें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर हैं। पर मनोवैज्ञानिक कहने से उनकी एकदेशीयता नहीं सिद्ध होती, कारण कि मनोविज्ञान साहित्य-विज्ञान का रूप भी ले सकता है। उपाध्याय ने अपने चिन्तन में इसी सरणि का अभ्यास किया है। उनमें किसी तथ्य के प्रति न पूर्वग्रह है और न किसी सिद्धि के लिये पहले से निर्धारित लक्ष्य है। तत्वान्वेषी की तरह वे साहित्य की परीक्षा करते हैं, उस परीक्षा में जो भी सार निकल आये, उसे वे आस्था के साथ स्वीकार करते हैं। उनकी इस दिशा की पुस्तकें, विशेषतः 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', 'साहित्य तथा साहित्यकार', 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन', हिन्दी साहित्यानुशीलन के विशिष्ट अध्याय हैं। इनसे हिन्दी समीक्षा को एक नई दिशा मिली है। उपाध्यायजी ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का भलीभांति अध्ययन किया है और भारतीय साहित्यशास्त्र उनकी अपनी वस्तु है। दोनों के सामंजस्य से एक तीसरे सत्य का जो अभ्युदय उनके समीक्षा-निबन्धों में होता है, वह कहीं सूत्ररूप में है, कहीं व्याख्यात भी हुआ है। पर है वह सर्वथा नवीन।

प्रस्तुत पुस्तक 'देवराज उपाध्याय : साहित्य शास्त्र के नये प्रश्न' उसी नवीन का हस्तामलक निरूपण है। इसके लेखक डा० जयशङ्कर त्रिपाठी हिन्दी के उदीयमान साहित्यस्रष्टा और साहित्य-चिन्तक हैं। उनमें प्रतिभा है, लिखने की क्षमता है। उनका साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन' अभी एक वर्ष पहले प्रकाशित हुआ है। उसमें भारतीय काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ ऐसे अछूते प्रश्नों को उजागर किया गया है, जिनसे लेखक की समर्थ प्रतिभा का पता चलता है। हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि उपाध्यायजी के साहित्यानुशीलन की परख एक योग्य युवा चिन्तक ने की है और उनके साहित्यानुशीलन के मर्म को ज्वलन्त तथ्यों के साथ खोलकर रख दिया है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं, जिनमें अन्तिम उपाध्यायजी की भाषा से सम्बन्ध रखता है। शेष छह अध्यायों में लेखक ने साहित्य के छह प्रश्नों पर सारभूत एवं नवीन व्याख्यान दिया है। इनमें डा० देवराज उपाध्याय के साहित्य सिद्धान्तों की ही प्रकारान्तर से विकृति है। दो अध्याय 'कविता के मूल स्रोत' तथा 'अनासन्न लेखकत्व' रचना की मूल भूमि एवं मूल प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं। 'अनासन्न लेखकत्व' को साहित्य-शास्त्र के अध्याय का रूप देना लेखक की सूझबूझ का परिचायक है। 'कविता का जीवन' अध्याय में साहित्य की उस नवीनता के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है, जिसके कारण साहित्य सदा गतिशील है। लेखक ने उसे भाषा कहा है पर उसे शैली भी कह सकते हैं। 'उपन्यास का शिल्प और उपलब्धियां' विशेष महत्त्वपूर्ण अध्याय बन गया है क्योंकि इसमें संस्कृत साहित्यशास्त्र के नवीनतावादी आचार्य कुन्तक के सिद्धान्तों की भी तुलना हुई है तथा उपाध्यायजी की कसौटी पर थोड़ा-बहुत कालिदास के साहित्य को भी परखा गया है। कालिदास के साहित्य की ऐसी परख 'आलोचना का स्वरूप तथा अन्य मान्यतायें' में भी है। इस अध्याय में आलोचक के मिथ्याभेदी रूप एवं उसके धर्म तथा उस धर्म के स्रोतों पर विस्तार से विचार हुआ है जो साहित्यानुशीलक को आकृष्ट करता है। आलोचना के सम्बन्ध में दो-तीन अन्य तथ्य भी इस अध्याय में हमें आकृष्ट करते हैं जो सर्वथा नये तो नहीं हैं पर उनका व्याख्यान नया है।

ग्रन्थ का सबसे बड़ा अध्याय तीसरा है। इसका शीर्षक है—आनन्द, रसास्वादन या रहस्यदर्शन। भारतीय मान्यताओं में रस-सिद्धान्त साहित्य की सर्वोपरि कसौटी है, साहित्य-चिन्तन के दूसरे पक्ष या तो इसके अंग हो

गये हैं अथवा इसमें आत्मसात् हैं। डा० देवराज उपाध्याय ने अपने समीक्षा-निबन्धों में रस पर कोई चर्चा नहीं की है, रस का उल्लेख अवश्य किया है पर उसे साहित्य की कसौटी स्वयं नहीं बनाया है। डा० त्रिपाठी ने उपाध्याय जी के ही कुछ समीक्षा-निबन्धों को आधार बनाकर ऐसे सिद्धान्त को मूर्तिमान किया है जो रस का विकल्प हो सके। रस की अपेक्षा जिसकी व्यापकता अधिक है, वह सिद्धान्त है—रहस्य-दर्शन। इसका मूल सूत्र उपाध्यायजी का है—'रहस्य-दर्शन सृजन की पहली शर्त है।' इसकी व्याख्या का विस्तार उनके उद्धरणों को ही आधार बना कर डा० त्रिपाठी ने किया है और इस विस्तार में संस्कृत साहित्यशास्त्र के रस सिद्धान्त को लेकर किये गये उन चार महत्त्वपूर्ण भाष्यों को भी सामने रखा है जो इस विषय के अप्रतिम निकष माने जाते हैं। उन व्याख्यानों के अनुसार ही वहां रस-संज्ञा के लिए कई अवान्तर संज्ञाओं का प्रयोग होता रहा है-आस्वादन, भोग, लय, समापन, विश्रान्ति, रसन, निर्वेश। प्रस्तुत लेखक ने उनमें एक नयी संज्ञा 'रहस्य-दर्शन' की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के तर्कपूर्ण सुसंगत प्रयास अत्यन्त क्रान्तिकारी ढग रखा है, इसकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

सम्पूर्ण ग्रंथ में सत्यता एवं तत्त्वान्वेषण का वातावरण इसलिये भी उजागर है कि लेखक की संस्कृत साहित्य शास्त्र में अच्छी पैठ है। वह अपने निर्णय के लिए संस्कृत साहित्यानुशीलन को भी साक्षी बनाता है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डा० देवराज उपाध्याय की हिन्दी-समीक्षा की जो देन है, ग्रन्थकार ने उसका मूल्यांकन करने में समर्थ प्रतिभा से काम लिया है और नवीनतम उपलब्धियों को कसौटी के साथ सामने रखा है।

नवीनता की जिस प्यास में साहित्य कभी मरता नहीं, उसके प्रतिमान की सैद्धान्तिक व्याख्या इस पुस्तक में देखी जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के सर्जन क्षेत्र में कई नयी विधाओं ने इधर जन्म लिया है, उनके सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नों का समाधान यहां मिलेगा। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में यह एक नया अध्याय जुड़ा है। एतदर्थ डा० त्रिपाठी बधाई के पात्र हैं। कृति का स्वागत होगा, मुझे इसका विश्वास है।

उज्जैन
दिनांक २८-११-६९

भगवतशरण उपाध्याय

अपनी बात

डा० देवराज उपाध्याय हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षा अथवा नई आलोचना के प्रतिष्ठाता हैं। साहित्य के संजीवन की अद्यतन व्याख्या, जो परम्परा से आती हुई मान्यताओं को नया मोड़ दे देती है, उनके समीक्षा-निबन्धों में भलीभांति प्रकट हुई हैं। इन निबन्धों में पश्चिमी साहित्य-चिन्तन और भारतीय साहित्य-निर्वचन का समान मन्थन देखने को मिलता है। प्रस्तुत पुस्तक एक लघुतम प्रयास है, जिसमें उपाध्यायजी के साहित्य सिद्धान्तों की छानबीन की गई है और कहीं उनके सत्यपक्ष को विस्तार से देखा गया है, दूसरे अर्थ में इस पुस्तक को विवृति कह सकते हैं। किन्तु सत्य बात यह है कि उपाध्यायजी के साहित्य-चिन्तन पर कुछ लिखने का अधिकारी मैं नहीं हूं। वस्तुतः मैंने तो उस अधिकार का प्रयोग किया है जो किसी जिज्ञासु पाठक का अपने विचारों को प्रकट करने का होता है।

उपाध्यायजी के कृतित्व से मेरा परिचय विगत दस वर्षों से रहा है। सन् १९६४ में उनके ग्रन्थ 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' का प्रकाशन हुआ, इस ग्रंथ को पढ़ने के साथ मेरा उनके कृतित्व से अन्तःसाक्षात्कार-सा हुआ। उन दिनों मैं 'दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन' विषय पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल्० उपाधि के लिए शोधकार्य कर रहा था। संस्कृत काव्यशास्त्र पर कई एक पुस्तकें मेरे सामने थीं, मैंने उनको पढ़ा, बहुत श्रम और चिन्तन किया तो भी संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास मेरी दृष्टि में सुलभ नहीं रहा था। 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' के कुछ निबन्धों को पढ़ने के बाद मैंने देखा, जैसे इन निबन्धों के सिद्धान्त में भारतीय काव्यशास्त्र का समूचा इतिहास निरावरण होता जा रहा है, और मैं जैसे ठीक रास्ते पर पहुंच रहा हूं। उपाध्यायजी के साहित्य-चिन्तन की गरिमा ने मेरी जिज्ञासा को अटूट कर दिया और अब यह पुस्तक हिन्दी-जगत् के सामने है।

साहित्य में रस-सिद्धान्त के विकल्प की स्थापना नई बात नहीं है। कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त यही विकल्प था। इधर हिन्दी में नई आलोचना का मार्ग प्रशस्त करने वालों ने ऐसे विकल्प के प्रति अत्यन्त तत्परता दिखाई है। उनकी तत्परता इस रूप में है कि वे रस-सिद्धान्त के विरोध में बहुत से तार्किक विचार और प्रयोग इकट्ठा करते हैं, उनके विकल्प का रूप क्या है, इसके प्रति वे असावधान हैं। डा० उपाध्याय नई आलोचना के ऐसे जीवन-दाता हैं जिन्होंने रस-सिद्धान्त के विरोध में कहीं कुछ नहीं कहा है, उलटे कहीं-कहीं उसकी प्रशस्ति भी कर दी है, लेकिन दूसरी ओर उनके समीक्षा-निबन्धों में रस-सिद्धान्त के विकल्प का जीवन्त चिन्तक अँगड़ाई लेकर उठ बैठा है। यदि रस का विरोध न भी किया जाए तो इस विकल्प-चिन्तन की सत्ता तिरोहित होने वाली नहीं है। उपाध्यायजी की इसी विशिष्ट गुण-स्थिति ने मुझे इस व्यवसाय के लिए (तद्गुणाः कर्णमागत्य चापलाय) उद्यत किया।

उपाध्यायजी का जन्म सन् १९०८ में बिहार-प्रदेश, शाहाबाद जिला के गांव बमनगांव में हुआ। शिक्षा की समाप्ति के साथ जब वे कार्यक्षेत्र में उतरे, उनके पैर राजस्थान में पड़े। तब से राजस्थान में वे हैं। उसी प्रकार विश्वविद्यालय का विद्वज्जगत् और अद्यतन साहित्य का चिन्तक-मण्डल, जो उपाध्यायजी की समीक्षा-भूमि का निकट का निवासी है, इनके कृतित्व के प्रति मौन रहा और मैं संस्कृत साहित्य-भूमि का स्नातक इस विषम-भूमि में पैर रखने का दुस्साहस कर बैठा।

संस्कृत साहित्य-चिन्तन की एक अद्भुत प्रवृत्ति रही है। उसने सिद्धान्तों की व्याख्या में तो सदा रस-सिद्ध कवीश्वरों की बात की है, परन्तु प्रयोग में उनको प्रतिष्ठा दी है, जिन्होंने रस को पीछे कर भाषा-प्रयोग के उक्ति-चमत्कार का वैभव खड़ा किया है। भट्ट, भारवि, माघ इसके ही उदा-हरण हैं। यहीं नहीं, अभिनव गुप्त ने जब रस-सिद्धान्त को प्रगाढ़ शास्त्रीय रूप प्रदान किया, तब ना 'नैषधीय चरित' का रचयिता उक्तियाँ, भाषा-प्रयोगों का ही विशाल प्रबन्ध लेकर कवीश्वर बनने की होड़ में खड़ा होता है। बिल्हण ने तो स्पष्ट ही कहा है—'विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्ना-न्यतिथीभवन्तु'। ये सूक्ति-रत्न भाषा-प्रयोग के ही वैचित्र्य हैं। किन्तु सिद्धान्त की बात आई तो इन साहित्य-चिन्तकों ने 'वक्रोक्ति जीवित' के लेखक कुन्तक की परम्परा को आगे नहीं बढ़ने दिया। यही संयुक्त-मोर्चा इन्होंने अतीत में दण्डी तथा वामन के प्रति खड़ा किया था। इन साहित्य-चिन्तकों की प्रवृत्ति

उन धर्म-प्रचारकों की रही है, जो विरोधी के धर्म को आत्मसात् करने के लिए उसको भी अपने धर्म की संज्ञा दे देते हैं। साहित्य में जो कुछ वैचित्र्य-जनक रहा, इन्होंने सबको रस या रसांग की संज्ञा दे दी, भारवि तथा माघ में भी रस का साधारणीकरण खोज निकालने वालों की संख्या कम नहीं है।

मैं समझता हूँ, मेरी इस पुस्तक ने भी परम्परा की लीक छोड़कर रास्ता पार किया है। अवश्य ही यह एक ओर भौंह टेढ़ी करने का कारण बनेगी। हो सकता है, दूसरी ओर इसकी सराहना भी हो। ऐसे सुधी एवं उन्मुक्त साहित्य-चिन्तकों के हाथ में यह पुस्तक अर्पित है। आखिर इसकी अच्छाई और कमी के प्रमाण भी तो वे ही बनेंगे।

दारागंज, इलाहाबाद

जयशङ्कर त्रिपाठी

क्रम

	भूमिका	
	अपनी बात	
१.	कविता के मूल स्रोत	१
२.	कविता का जीवन	१६
३.	आनन्द, रसास्वादन या रहस्य-दर्शन	४४
४.	उपन्यास का शिल्प और उपलब्धियां	१०६
५.	अनासन्न लेखकत्व	१२६
६.	आलोचना का स्वरूप तथा अन्य मान्यताएं	१४३
७.	उपाध्यायजी की भाषा	१७७
	परिशिष्ट — १	१८६
	परिशिष्ट — २	१६१
	परिशिष्ट — ३	१६८

१ कविता के मूल स्रोत

कविता के मूल स्रोत का अर्थ प्रकारान्तर से यों ग्रहण करना चाहिए कि 'कवि कौन है ?' कवि क्यों लिखता है ? अथवा 'कवि कब लिखता है ?' कविता हजारों वर्ष से लिखी जा रही है, उसके रूप में अन्तर आया है, चाल में अन्तर आया है, गति में उठने वाले शब्दों में अन्तर आया है परन्तु प्रवाह की सत्ता में कोई विभेद नहीं पैदा हुआ, अन्तर नहीं आया। इससे कविता के मूलस्रोत की सत्ता और उसकी अजरता पर ध्यान जाता है तथा यह विश्वास होता है कि कविता इसी प्रकार मनुष्य-जीवन के साथ प्रवाहित होती चलेगी। मनुष्य-जीवन के परिवर्तन के साथ उसकी धारा के मार्ग में भी परिवर्तन होता चलेगा पर उसका अस्तित्व रहेगा। कविता का बहुत लम्बा इतिहास है। उसने अनेक रूप और रंग बदले हैं, उसने मनुष्य के साथ अनेक भूखण्ड और इतिहास के बीच अपने कदम रखे हैं, पर रुकी कहीं नहीं। कहीं स्वर्ण युग के सपाट मैदान में कविता की इस धारा का पाट बहुत चौड़ा हो गया है, कहीं इतिहास की संकीर्ण घाटियों में इसकी धारा क्षीण किन्तु बिजली-सी तीव्र और तारों-सी चमकीली हो गयी है पर वह चलती रही है। विस्तार और क्षीणता को लेकर इसके अस्तित्व और अनस्तित्व की बातें भी आज के चिन्तकों ने उठाई हैं।

कवि क्यों लिखता है ? इस प्रश्न के साथ ही कविता के अस्तित्व और अनस्तित्व के प्रश्न का समाधान भी हमारे इस चिन्तन में हो जाता है कि कविता के मूल स्रोत क्या हैं ? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका उत्तर उतनें प्रकार से मिलता है, मनुष्य के जीवन को चिन्तन करने वाले चिन्तकों के जितने पक्ष हैं। उदाहरण के लिए कविता के सम्बन्ध में दो विचारकों के ये विचार लीजिए—श्री भगवतशरण उपाध्याय काव्य को मनुष्य मानते हैं, उनका कहना है—'जन-काव्य वास्तव में न ग्रामीण होगा, न शब्दाडम्बरपूर्ण।······ निस्सन्देह ऐसे कवि की कृति हमारी होगी जो पुलकित हो हमें सावधान

करेगा—इसे पुस्तक न जानो। सावधान ! जो इसे छुएगा मनुष्य को छुएगा।'[१] श्री अज्ञेय कविता को मनुष्य (कवि) की शब्दकृति मानते हैं—'नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं हैं—भले ही जो लीक वह पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो।"[२] दोनों विचारकों की बातें सत्य हैं—एक ने कविता के इतिहास को देखा है और दूसरे ने कविता के रूप को। पर इतिहास तथा रूप से ही कविता के समग्र अस्तित्व का बोध नहीं होता। यह तो परिभाषा की बात हुई। इससे इतिहास लिखा जा सकता है, कविता की सामान्य पहिचान इतर वाङ्मय से कराई जा सकती है, विशिष्ट पहचान नहीं। आज भी संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में ऐसी कृतियां विद्यमान हैं जिनका दुहरा अस्तित्व बना हुआ है। भगवान् कृष्ण की गीता को दर्शन के अतिरिक्त काव्य भी कहा जाता है। इसी प्रकार कबीर के साहित्य को कुछ लोग कविता की स्वीकृति नहीं देना चाहते। ऐसा क्यों ? इसलिए कि हम अभी तक कविता की परिभाषा में उलझे रहे हैं, और कविता की धारा का मूलस्रोत क्या है इसको महत्व नहीं दिया है। हम यह भी समझते रहे हैं कि शब्द, अर्थ, अलंकृति, उक्ति तथा रस से सम्पृक्त कविता किसी भी मेधा में अवतरित की जा सकती है। उसके लिए यत्न, अभ्यास और वाणी की उपासना चाहिए—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणा—
नुबन्धि-प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ (काव्यादर्श १।१०४)

पर ऐसा समझना गलत है। यह सब कहते हुए आचार्य ने कविता के मूल रहस्य की बात पहले कह दी है—पूर्व वासना के गुणों से सम्पृक्त अद्भुत प्रतिभा काव्य की सृष्टि करती है। यह कथन कविता की परिभाषा नहीं है, उसके मूल स्रोत के प्रति संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्य आलंकारिक दण्डी का संकेत मात्र है, जिसके विस्तार के प्रति दृष्टि-उन्मेष उस समय नहीं हो सकता था। केवल कविता की परिभाषाएं होती रही हैं, कविता के साधन तथा स्वरूप की मीमांसा होती रही है। अतः, अलग से उस मीमांसा की प्रतिष्ठा अलंकार-शास्त्र के रूप में तो हो गई पर कविता रहस्यमय ही बनी

१. साहित्य और कला, पृ० ११
२. तीसरा सप्तक पृ० १४

रह गई। किसी कला का परिभाषा-शास्त्र उसके विकास का अवरोधक बन जाता है, परिभाषा ही कला हो जाती है, कला पीछे रह जाती है—'**जब आलोचना की किरणें इस रहस्य को उद्भासित कर देती हैं और लोगों को कला के छल-छद्मों का ज्ञान हो जाता है, लोगों को पता चल जाता है कि कला किन-किन उपायों का अवलम्ब लेकर, किन-किन साधनों के द्वारा कहां–कहां से सामग्री प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्रकट करती है बस उसी समय वह समाप्त हो जाती है, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। उसमें प्राणों के स्पन्दन का ह्रास होने लगता है, निर्जीव फूंक की अधिकता बढ़ने लगती हैं। प्रतिभा के सहज स्पन्दन, स्वच्छन्द विलास का स्थान क्रमशः अनुकरण की नोंच-खसोट लेने लगती है।**"[1] इस प्रसंग में एक रोचक कथन की चर्चा कर देना अनुचित न होगा। १० वीं, शती के आरम्भ में राजशेखर ने कवि के लिए सौध–भवन, जो उद्यान, बावली, एवं विलास के प्रसाधनों से युक्त हो, अपेक्षित बताया था[2] पर उनके समकाल अथवा एक शती के अनन्तर ही उन सन्त कवियों की परम्परा का उदय हुआ जो फटेहाल, भिखारी बनकर समाज को ईश्वर-भक्ति का प्रेम-सन्देश देने के लिए कटि-बद्ध हुए थे। अर्थात् राजशेखर की काव्य-कवि-सम्बन्धी परिभाषाएं उनका निजी व्यक्तित्व था, मूल रहस्य की पहिचान नहीं थी, जिस पहिचान को आचार्य दण्डी ने '**पूर्व-वासना गुणानुबन्धि प्रतिभान**' कहा था।

कविता को समझने के लिए, उसके स्रष्टा कवि को पहचानने के लिए कविता के समग्र अस्तित्व का बोध आवश्यक है। समग्र अस्तित्व का वह बोध कहां उपलब्ध है ? कविता में अथवा कवि में ?कविता में वह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वतः दूसरे की कृति हैं, उसका अस्तित्व कवि से ही अनुप्राणित है और यदि हम कवि में समग्र अस्तित्व का बोध मानते हैं तो कवि हमारे सामने है कहां ? है उसकी कविता। अतः, कविता में कवि की खोज ही कविता के समग्र अस्तित्व का दर्शन करना है। उस शाश्वत अस्तित्व का दर्शन करना है जो पूर्व वासना के गुणों से सम्पृक्त (सिंचित) होकर कवि की प्रतिभा में अपनी स्थिति रखता है। इस प्रश्न और व्यवस्था को पहली बार विस्तार से डा० देवराज उपाध्याय ने अपने चिन्तन-पूर्ण लेखों में रखा। उनके नूतन चिन्तन के मुख्य पक्षों पर यहां विचार किया जाता है। उन पर विचार करने का एक पक्ष यह भी है कि वे किसी भी पक्ष के पूर्वग्रह से मुक्त हैं।

---

१. डा० रांगेय राघव; उपन्यास: मेरी मान्यताएं, पृ० १

२. देखो, काव्यमीमांसा, अध्याय १०

पूर्वग्रह से मुक्त होने के कारण उनके कथन परस्परविरोधी से लगते हैं। एक बार वे संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में कविता में भाव का समर्थन करते हैं—'रससिद्ध कवीश्वर की प्रतिभा की ओर देखते हैं।[१], पुनः आज के निर्वचन में टेकनीक को लेकर भाषा को ही कविता बताते हैं।[२] एक बार कहते हैं—साहित्य की प्रक्रिया में व्यक्तित्व का बहुत महत्व होता है।[३] पुनः यह आवश्यक बताते हैं कि कवि का काम आत्माभिव्यक्ति करके नहीं रह जाना है, परन्तु दूसरों के अन्दर भावों को जागृत करना भी है।[४] ऐसी विरोधी व्याख्याओं में काव्य-तत्व का विश्लेषण उलझ जाना ही अधिक सम्भव है। पर आश्चर्य है कि इन व्याख्याओं में काव्य-तत्व उलझता नहीं है, और सुलझता नजर आता है। इसका कारण डा० उपाध्याय की वह मौलिकता है जिसमें उन्होंने किसी का अनुसरण न कर काव्य-तत्व की खोज में अपने आप को समर्पित कर दिया है। और अन्त में उनके सभी विरोधी व्याख्यान कविता के मूल में एक होकर अविरोधी हो जाते हैं। और क्योंकि काव्यतत्व का विश्लेषण युगों से एक गहन समस्या रहा है इसलिए सरल तथा अविरोधी भाव से उसका समग्र व्याख्यान हो ही नहीं सकता।

डा० उपाध्याय ने पहले उक्त चिन्तन का विस्तार दो बातों में किया है—(१) पहली बात यह है कि कविता कवि के किसी इष्ट की सिद्धि है। उनका मूल कथन है—'कविता या कोई भी कलात्मक कृति कुछ भी किसी के लिए नहीं करती हो पर कवि के लिए तो कुछ करती ही है।[५] मेरे विचार में किसी कविता या कलावस्तु पर विचार करते समय यही ध्यान में रखना चाहिये कि वह किसी न किसी तरह कवि के किसी निजी उद्देश्य की सिद्धि कर रही है।[६] (२) दूसरी बात कवि की इष्ट-सिद्धि के धरातल से सम्बन्ध रखती है, उपाध्यायजी का कहना है कि "कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्न है, किसी चीज की अनुभूति या स्वप्न नहीं।"[७] स्वप्नों में भी काव्य के क्षण होते हैं, दिवा-स्वप्नों में भी कल्पना का विकास सक्रिय रहता है और काव्य तथा उपन्यास में भी सपने रहते हैं।"[८]

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १३
२. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २३
३. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १३
४. वही, पृ० १३४
५. वही, पृ० ४५
६. वही, पृ० ११
७. वही, पृ० १८
८. वही, पृ० १०१

उक्त दोनों बातें पुनः डा० उपाध्याय के इस सिद्धान्त में परिणमित हो जाती हैं—"अतः यह निश्चित है कि साहित्य में या कला में हम सबको छोड़ सकते हैं पर व्यक्ति को नहीं छोड़ सकते। व्यक्ति किसी न किसी भांति साहित्य में आ ही जाता है। ऐसा भी सम्भव है कि लेखक व्यक्ति को इस बात का पता भी न हो और वह चाहता भी हो कि उसके व्यक्तित्व के सम्पर्क से उसका साहित्य लांछित न हो।"[1] इसका उन्होंने एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। कालिदास के रघुवंश में दिलीप की गो-सेवा का वर्णन है। गंगा के उद्‌गम के पास हिमालय की गुफा में नन्दिनी गाय हरी-हरी घासें चर रही थी, सिंह ने उसे दबोच लिया। दिलीप ने हस्तक्षेप किया। तब सिंह ने कहा—गाय का छुटकारा तभी सम्भव है जब तुम इसके बदले में अपने को मेरे भोजन के लिए अर्पित कर दो। दिलीप तैयार हो गये। समस्त राज्य की प्रजा का रक्षा-भार त्याग कर, राज्य के गौरव का लोभ छोड़कर उन्होंने केवल एक गाय की रक्षा के लिए अपने को सिंह के लिए भेंट कर दिया। अर्थात् 'साहित्य की प्रक्रिया में व्यक्ति का बहुत महत्व होता है।'[2] साधारण समीकरण तो यही समझा जाता है कि महान् वस्तु = महान् प्रभाव। पर साहित्य में इसके विपरीत यह भी हो सकता है महान् प्रभाव = महान् वस्तु।'[3] डा० उपाध्याय के सिद्धान्त पर कालिदास के रघुवंश के उक्त प्रसंग को विस्तार में इस प्रकार समझा जा सकता है। सम्राट दिलीप ने गाय के लिए त्याग किया। उनके लिए गाय का महत्व साम्राज्य से भी अधिक था। दिलीप महान् वस्तु हुए। उसका महान् प्रभाव यह पड़ा कि गाय की रक्षा और उसकी सेवा समाज में सर्वोपरि स्वीकार कर ली गयी। पर यह दिलीप की महानता नहीं थी। कवि कालिदास महान् होकर दिलीप में समाविष्ट हैं। कालिदास का यह व्यक्ति-उन्मीलन भी परम्परया भगवान् कृष्ण की गो-रक्षा से अनुप्राणित है, (कदाचित् कृष्ण के गोरक्षा-आदर्श की काव्य में प्रथम अभिव्यक्ति उक्त रूप में कालिदास ने ही की है।) अर्थात् कालिदास पहले कृष्ण में समाविष्ट होते हैं और फिर दिलीप में। काव्य में कवि का ही व्यक्तित्व है पर उसका निर्माण दूसरे से हुआ है और अभिव्यक्ति भी दूसरे में हुई है। कवि दो बार परकायप्रवेश करता है, एक बार अपने निर्माण के लिए, दूसरी बार अपने काव्य-निर्माण के लिए। यह भी एक विशेष बात है कि उक्त व्यक्तित्व तीनों पात्रों में उत्तरोत्तर महान् और स्वच्छ होता गया है।

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ५३
२. वही, पृ० ५३
३. वही, पृ० ५२

अतः कवि महान् माध्यम है। कृष्ण का ऊर्जस्वी व्यक्तित्व जैसा कालिदास में समाविष्ट हो सका अन्यत्र असम्भव था। तो इस माध्यम की महानता का रहस्य क्या है? कृष्ण और कालिदास के काल में लम्बा अन्तर है। साथ ही सम्राट और कवि की स्थिति भी एक दूसरे से अलग है। तब कृष्ण, कालिदास और सम्राट्—परस्पर एक परम्परा में किस सूत्र से आबद्ध हुए? इस सूत्र की मीमांसा काव्य के स्रोत का उन्मीलन है। ऊपर डाक्टर उपाध्याय ने इसे स्वप्न तत्व कहा है, सम्भवतः फ्रायड की मनोवैज्ञानिक सरणि पर। किन्तु अन्यत्र वे अधिक इसे प्रकट रूप में प्रस्तुत करते हैं–"मेरा अपना ख्याल यह है कि प्रारम्भ में तो कविता भावाक्रान्त रही होगी, भावों की गोद में ही पली होगी।"[1] अतः, भाव ही वह माध्यम है जिसने कृष्ण को लेकर कालिदास का व्यक्तित्व निर्माण किया और कालिदास के उस व्यक्तित्व को रघुवंश के कथा प्रसंग में स्वप्नतत्व की सत्ता को दिलीप में उड़ेल दिया। यदि हम मान लें कि कृष्ण से कालिदास का व्यक्तित्व नहीं निर्माण हुआ और न कालिदास के व्यक्तित्व ने दिलीप के कार्य-व्यापार में प्रवेश किया, केवल कृष्ण के आदर्श को ही कालिदास दिलीप में चित्रित करना चाहते हैं तो क्या तब भी दिलीप नन्दिनी और सिंह का प्रसंग उसी रूप में परिणमित होता, जैसा कि आज हमें रघुवंश में प्राप्त है? नहीं, उक्त रूप में उसका परिणमन तब सम्भव न होता। कथा का अन्त दूसरी कल्पना में होता, जिसमें दिलीप नन्दिनी के लिए आत्म-समर्पण न करते बल्कि गोरक्षा के आदर्श में संघर्ष करते हुए क्षत-विक्षत होते, गौ के साथ अपने को भी बचाना चाहते।

इस प्रकार जब हम कहते हैं कि कवि का व्यक्तित्व साहित्य का निर्माता है तब हम कोई नई बात नहीं कहते। हमारे इस कथन की समानता संस्कृत काव्यशास्त्र में की गई इस कविप्रशंसा से अपने आप हो जाती है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

'अपने अनन्त काव्य-संसार में कवि स्वयं प्रजापति होता है, उसे जैसा रुचता है अपने काव्य में वह विश्व की वैसी ही सृष्टि करता है।' अर्थात् कवि की कृति में उनके मन का संसार उतरता है। और जब आनन्दवर्धन कहते हैं कि—

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ७०

इतिवृत्तवशायातां कथंचिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः यथा कालिदासप्रबंधेषु।

'कथा में इतिहास से प्राप्त ऐसी घटना को जो रस की अभिव्यक्ति में समर्थ न हो, उसे त्याग कर अभीष्ट रस के उपयुक्त कथाप्रसंग की कल्पना कवि को कर लेनी चाहिये जैसा कि कालिदास के प्रबन्धों में है।' तब काव्य में कवि के व्यक्तित्व का ही समर्थन होता है। तुलसीदास ने तो स्पष्ट ही कहा है कि—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।

यहाँ तुलसीदास में समष्टि का कर्तृत्व देखने वाले "स्वान्तः सुखाय' का अर्थ समाज के अन्तःकरण का सुख कर लेते हैं पर इस खींचातानी से कवि के इतिहास में अन्तर नहीं आता क्योंकि 'विनयपत्रिका' में वह छिपा हुआ इतिहास खुले पन्नों में आ जाता है और तुलसीदास के व्यक्तित्व ने न केवल अपना [illegible] रखा है वरंच अपने साहित्य के नायक 'राम' की भी मानसी सृष्टि की है। यह बात दूसरी है कि तुलसीदास का मानस अत्यन्त गहरा, व्यापक और विराट् है, उसका साधारणीकरण तत्कालीन सम्पूर्ण भारतीय समाज से है और उसमें इस देश की संस्कृति का अतीत, वर्तमान तथा अनागत समाया हुआ है। किन्तु उनके साहित्य में सर्वत्र किसी न किसी रूप में मूल उत्स उनके व्यक्तित्व का है। तुलसीदास को छोड़िये, वे संक्रान्तिकाल या विदेशी शासन से पीड़ित थे। उनके आठ सौ वर्ष पूर्व के आनन्दवर्धन को लीजिए जिनके सामने अपना राज्य और अपना समाज था। वे भी अपनी कविता की सृष्टि में व्यक्ति-सुख की चिन्ता से श्रान्त हैं—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता, नैव, च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।[2]

अर्थात् 'समुद्र में शयन करने वाले भगवान्! कवियों की नित्य नूतन दृष्टि, जो रसों की वर्षा करने में कल्पनाशील रहती है और विद्वानों की दृष्टि, जो

१. ध्वन्यालोक ३।१४
२. ध्वन्यालोक ३।४४ की वृत्ति में उदाहृत

तात्विक विषयों के उन्मीलन में लीन रहती है—इन दोनों दृष्टियों का अवलम्बन कर विश्व का सतत वर्णन करते हुए हम थक गए, पर हमें वह सुख वहां नहीं मिला, जो आपके भक्ति-सुख की समानता कर सके।' यहां स्पष्ट है कि कविता और दर्शन में सर्वथा ऐकान्तिक सुख का अभाव पाकर व्यक्तित्व ने भगवान् की भक्ति का आश्रय ग्रहण किया है। यहां ऐकान्तिक सुख का अभाव इसलिए रहा कि व्यक्ति ने कल्पना तथा उन्मेष दृष्टि—दोनों में अपने स्वायत्त की सृष्टि के लिए आकुलता प्रकट की है और थकता रहा है। पर भगवान् की भक्ति में उसने अपनी सत्ता का समर्पण कर दिया। अतः, कर्म और श्रान्ति दोनों से मुक्ति मिली। इस प्रकार व्यक्तित्व से साहित्य के निर्माण का इतिहास नया नहीं है।

अब पुनः आनन्दवर्धन के सिद्धान्त वाक्य को लीजिए। कवि को अभीष्ट रस के उपयुक्त कथाप्रसंग की कल्पना करनी चाहिए। यहां जो नया प्रसंग कथा में कल्पित किया जायगा, उसके लिए आचार्य न तो सिद्धांत स्थिर कर सकता है, न उसका स्वरूप निर्धारित कर सकता है। केवल यह दिशा-निर्देश मात्र देगा कि प्रसंग अभीष्ट रस के अनुगुण होना चाहिए। यह अभीष्ट भी कवि का होगा। उस अभीष्ट के अनुकूल और अपने भावों तथा विचारों में अनुस्यूत जो प्रसंग कवि द्वारा कल्पित होगा, उसे कवि का व्यक्तित्व ही कहा जायगा। अतः, डा० उपाध्याय ने दिलीप, नन्दिनी और सिंह के कालिदास-कल्पित कथाप्रसंग को उदाहृत कर साहित्य में कवि के व्यक्तित्व का जो अनिवार्य महत्व बताया है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

कवि के इस व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया क्या है? किन-किन उपादानों से सम्भव है? भूत, वर्तमान और भविष्य कितनी-कितनी सीमा तक कवि को प्रभावित करते हैं? क्या जब कवि का अपना व्यक्तित्व न होगा तब भी सत्काव्य की स्थिति सम्भव है? आदि प्रश्न ही कविता के मूल-स्रोत की व्याख्या है। डा० उपाध्याय के विभिन्न निबन्धों में इन प्रश्नों के मौलिक उत्तर मिलते हैं। विस्तार से उनको यहां प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, कुछ सारभूत बातों पर यहां विचार किया जाता है।

कवि के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया का मूल स्वरूप स्वप्नतत्व के संनिभ है, पर वह दिवास्वप्न नहीं है, इसे डा० उपाध्याय ने कई बार दुहराया है। उनका कहना है कि दिवास्वप्न आत्म-केन्द्रित होता है। कविता कितनी ही झुके, दिवास्वप्न कितना ही ऊंचा उठने का प्रयत्न करे, दोनों की खाई

पाटी नहीं जा सकती ।[1] दिवास्वप्न-द्रष्टा की तुलना रोमांटिक कवि से की जा सकती है, क्योंकि **रोमांटिक कवि में अपना नायक बनाने की, अपनी कथा कहने की प्रवृत्ति होती है** ।[2] कवि के व्यक्तित्व का निर्माण स्वप्न-तत्व पर केन्द्रित होगा अर्थात् प्रकृति, समाज, इतिहास, भाव, अभाव आदि में रमण की क्षमता रखने वाला, सब में अपने 'स्व' को देखकर अपने 'स्व' को समृद्ध बनाने वाला, जिसका सब कुछ और सभी का जो होता है—वह ही कवि का व्यक्तित्व है । रिचर्ड्स के समर्थन में अपने विचार व्यक्त करते हुए कुछ ऐसा ही डा० उपाध्याय ने कहा है—"इसलिए काव्यालोचन के क्षेत्र में रिचर्ड्स का अनुदान यही है कि उन्होंने काव्य का सम्बन्ध एक तरह के मनोवैज्ञानिक मानववाद के साथ स्थापित कर दिया । जोरों से कहा कि कविता को मानव के लिए हितकारी होना आवश्यक है और वह हितकारिता इस बात में है कि कविता मनुष्य में एक सन्तुलित दृष्टि की सृष्टि करती है । वह मनुष्य को क्रियारत नहीं बनाती परन्तु क्रिया में रत होने वाली मानसिक स्थिति में ला छोड़ती है ।[3] इस कथन में सन्तुलित-दृष्टि कवि के परकेन्द्रित व्यक्तित्व-निर्माण का और 'क्रियारत नहीं बनाती' परन्तु क्रिया में रत होनेवाली मानसिक स्थिति में ला छोड़ती है'—कवि के स्वप्न-तत्व का अभिज्ञान है ।

कवि के व्यक्तित्व-निर्माण की मूल क्रिया स्वप्न-तत्व की चर्चा—इसके पूर्व आचार्यों ने नहीं की है, इसे उसकी सत्ता का अभाव नहीं कहेंगे । काव्य में उसकी ठेठ स्थिति होते हुए भी आचार्यों ने उसका उल्लेख उसकी उत्कृष्ट परिवर्तित स्थिति को लेकर ही किया है । मम्मट ने जो यह कहा कि **'विगलितवेद्यान्तरमानन्दं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत्'**[4] अर्थात् अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर उत्पन्न अपूर्व आनन्द स्वरूप जो काव्य, विचित्र (लोकोत्तर) वर्णन करने में निपुण कवि का जो कर्म—वह काव्य अथवा कर्म, उनकी यह परिभाषा विगलित वेद्यान्तर, लोकोत्तरवर्णना—मूलतः स्वप्न-तत्व का ही रूप है । उसी की परिवर्तित उत्कृष्ट स्थिति का व्याख्यान मम्मट करते हैं । दूसरे शब्दों में इसे हम सामान्य स्वप्न से लोकोत्तर स्वप्न-तत्व कह सकते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इसी को विधायक कल्पना कहा जायगा ।[5] इसी प्रकार श्री शिवदान सिंह चौहान जब

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १०६, १०९
२. वही, पृ० ११७
३. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३५
४. काव्य प्रकाश, उल्लास १।१
५. रसमीमांसा, पृ० ९६

यह कहते हैं कि "किसी गहरी अनुभूति की कलात्मक अभिव्यंजना के बिना भी कविता में यदि "सही" मानववादी दृष्टिकोण या "सही" वामपक्षीय राजनीतिक विचार पद्य-बद्ध है तो उनकी हल्की-फुल्की तुकबन्दियों को नये "युग" की कविता घोषित करने में हमारे कतिपय प्रगतिवादी आलोचक संकोच नहीं करते।"[1] तो गहरी अनुभूति और हल्की-फुल्की तुकबन्दियों का अन्तर समझ में आ जाता है। गहरी अनुभूति अर्थात् कविता के जन्म की स्थिति; और इस "गहरी अनुभूति" को समझने के लिए स्वप्न-तत्व की व्याख्या पर आना पड़ता है।। डा० उपाध्याय ने कविता के मूल में स्वप्न-तत्व का निर्देशन कर कविता के जन्म की ठेठ कहानी को बिना स्तुति और निन्दा के कह दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य और सृष्टि-प्रसार का जिक्र करते हुए कहा है—'यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारा कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रहे तो उसकी मनुष्यता कहां रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चांदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पट पर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन दुखी का आर्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हंसा तो उसके जीवन में रह क्या गया?-'[2] उनके इस प्रकार के निर्देशों की कोई इति नहीं हो सकती। लेकिन यदि इसे एक सूत्र में कहना चाहें तो यही कहेंगे कि जो मानव-हृदय के श्रेष्ठ स्वप्न-तत्वों में न डूबा उसके जीवन में रह क्या गया? और इस सूत्र की ही व्याख्या शुक्ल जी का उक्त कथन है।

इस स्वप्न-तत्व को और भी स्पष्ट करके हम इस प्रकार समझ सकते हैं—"मेरे जानते साहित्य में सामयिकता, यथार्थवादिता इत्यादि की वकालत करने वाले व्यक्तियों के द्वारा जो सबसे बड़ी भूल होती है वह यह है कि वे जीवन और साहित्य को एक में मिला कर देखते हैं। वे जीवन की वास्तविक

---

१. साहित्य की समस्याएं', पृ० ११

२. रस मीमांसा, पृ० ८

अनुभूति और काल्पनिक अनुभूति को समानार्थक मान लेते हैं। अनुभूतियां कला की सामग्री हो सकती हैं पर लक्ष्य नहीं। लक्ष्य है आत्माभिव्यक्ति जो अनुभूति-सामग्री के द्वारा अस्तित्व धारण करती है। कला है, अनुभूति + कुछ और चीज। यह कुछ और चीज बड़ी रहस्यमय वस्तु है। इसके स्वरूप का विश्लेषण नहीं हो सकता।"[१] इस कुछ और चीज को कवि का व्यक्तित्व अथवा उसका 'लोकोत्तरवर्णना-निपुण-कविकर्म' कह सकते है, और अनुभूति है स्वप्न-तत्व और इन दोनों की सम्मिलित परिणति कविता या कला हुई। डा० उपाध्याय के इस विश्लेषण से संस्कृत के आचार्य भट्ट नायक के रस सिद्धान्त का भोगपक्ष, अभिनव गुप्त के रस के साधारणीकरण—अभिव्यक्ति पक्ष की तुलना में अपनी सत्ता में अधिक प्रकाश में आ जाता है, और इस स्वप्न तत्व को हम भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के समकक्ष रख कर ही भलीभांति समझते है। उपाध्याय जी अनुभूति को प्रधानता देते हैं अभिव्यक्ति को नहीं। "यहां मेरी कल्पना के अनुसार अनुभूति के ज्ञान की अभिव्यक्ति 'प्रत्यक्षादिर्नीलादि विषय' की अभिव्यक्ति है और अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रकटता अथवा संवित्ति की अभिव्यक्ति।"[२] उनकी दृष्टि में कवि का विधेय अनुभूति ही है-कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्न है, किसी चीज की अनुभूति या स्वप्न नहीं।"[३] ऐसा होने पर अनुभूति अर्थात् काव्य या नाट्य का भोग कवि अथवा अभिनेता द्वारा भावो की अभिव्यक्ति से प्रस्तुत होता है। पाठक या दर्शक उस अनुभूति या भोग का आस्वादन करता है। उसकी अभिव्यक्ति का व्यापार (साधारणीकरण) पाठक या दर्शक में अपेक्षित नहीं है, क्योंकि कवि का विषयीभूत पदार्थ केवल अनुभूति है, किसी चीज की अनुभूति नहीं और जब किसी वस्तु की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं है तब साधारणीकरण कैसा ? हां, कवि के व्यक्तित्व निर्माण के पूर्व कवि में वह साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण बहुत ही उदात्त व्यापार या प्रक्रिया है, जो कवि जैसे विराट् पक्ष में ही सम्भव है, अर्थात् काव्य या कला के भोक्ता में नहीं, स्रष्टा में ही साधारणीकरण होगा। अपने उक्त कथन को डा० उपाध्याय ने प्रकारान्तर से भी दुहराया है–'पर जब हमारा हृदय प्रणय–स्वप्न की चंचलता पर सर धुन–धुन कर रोने लगेगा तो नेताओं के तर्कवचन हमें आश्वासन नहीं दे सकेंगे। उस समय कवि की भावशक्ति की विशेषता ही हमारे काम आयेगी।

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ७३।७८
२. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ५९
३. वही, पृ० ५९

भावशक्ति ही, भावशक्ति का ज्ञान नहीं ।"[1] अर्थात् भावशक्ति का ज्ञान कवि का पक्ष है, कविता का मूल स्रोत है, वह हमारा अर्थात् पाठक का पक्ष नहीं है । उसके लिए कवि को जिन दूरियों को तै करना पड़ता है, वह पाठक के लिए सम्भव नहीं । उस दूरी को जो भी पार करता है कवि होता है—जब व्यक्ति की प्रतिभा अपने स्थूल आवरणों का भेदन करने लगती है, वेदान्त के अनुसार जब वह अन्नमय कोष में से आगे बढ़ कर प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष की ओर बढ़ने लगती है तो व्यक्ति कवि बनने लगता है ।"[2] अनुभूति, भोग तथा साधारणीकरण आदि की प्रक्रिया कवि की आनन्दमय स्थिति है । इस स्थिति का भावक व्यापार किस प्रकार रहस्यदर्शन की वृत्ति है, इसका विवेचन आगे हम तीसरे प्रकरण में कर रहे हैं ।

कवि के विराट् व्यक्तित्व और स्वप्नतंत्र की प्रक्रिया का एक बोध-उदाहरण भी डा० उपाध्याय ने दिया है । यह उदाहरण कबीर के एक दोहे की व्याख्या के रूप में है, उसे हम यहां ज्यों का त्यों देते हैं—

'रितु बसन्त जाचक भया, डाल दियो द्रुम पात ।
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहीं जात ।।

कबीर का कहना है कि वसंत वृक्षों के पास याचक के रूप में उपस्थित हुआ । वृक्षों ने उदारतापूर्वक अपने सब पत्ते दे दिए । पतझड़ का दृश्य उपस्थित हो गया । पर इसका परिणाम यह हुआ कि नये पल्लवों से वृक्ष लद गए । चारों ओर वसन्त की हरियाली छा गई । क्योंकि सात्विक दान कभी भी व्यर्थ नहीं जाता । उसी तरह कथा कलाकार के पास भिखारिणी के रूप में उपस्थित हुई—हे कवि मुझे रूप दो, मैं निरूप हूं, जड़ हो गई हूं, मुझे आकार दो, चैतन्य दो । कवि ने उसे अपना स्वरूप प्रदान कर दिया । इस का परिणाम क्या हुआ ?"[3] कवि ने अपना कौन-सा स्वरूप कला को प्रदान किया, इसका निर्देश डा० उपाध्याय ने अन्यत्र कर दिया है । उसे विस्तार से समझने के लिए हम इसका विश्लेपण इस प्रकार से करेंगे कि कवि के पास थोड़ा सा आगे-पीछे दो बार वसन्त ऋतु का अवतार हुआ । एक बार स्वयं उसमें, जब वह अपने व्यक्तित्व के लिए विश्व की रमणीयता के सामने याचक बना, दूसरी बार कला में, जब कवि के रमणीक व्यक्तित्व

---

१. वही, पृ० ८७
२. वही, पृ० १३०
३. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १३०

पर मुग्ध होकर स्वयं कला अपने रूप आकार के लिए उसके पास याचक बनी। कवि का अपने व्यक्तित्व के लिए विश्व की रमणीयता के सामने याचक बनना, एक अलौकिक व्यापार है जो सबके लिए सम्भव नहीं है। इसी अर्थ में कवि जन्मजात होता है, उसका निर्माण नहीं किया जा सकता। डा० उपाध्याय ने भी इसकी स्वीकृति दी है।' और इसीलिए हम साहित्य नहीं साहित्यकार की ओर देखते हैं। 'कालिदास के' अभिज्ञान शाकुन्तल' और शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटकों में अनेक ऐसी भूलें हैं जो नाट्कला की दृष्टि से क्षम्य नहीं है परन्तु **'किसी रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तल एवं हेमलेट का आदर बढ़ता ही जा रहा है? कारण कि इन पुस्तकों के पढ़ते समय हम एक महान् दिव्य मस्तिष्क के सम्पर्क में आते हैं और स्वयं भी अपने में दिव्यता की अनुभूति पाते हैं।"**[1] स्पष्ट है कि डा० उपाध्याय की प्रक्रिया के अनुसार कालिदास और शेक्सपियर विश्व की रमणीयता के सामने अपने व्यक्तित्व के लिए याचक बने थे, तथा जब कला इनके पास याचक बनी तब इन्होंने अपना सारा व्यक्तित्व ही तन्मय होकर कला में उड़ेल दिया।

क्या उक्त प्रकार से कवि के व्यक्तित्व का निर्माण और सर्वात्मना त्याग आज नहीं होता? यदि होता है तो क्या आज भी कालिदास और शेक्सपियर हो सकते हैं? यह एक गूढ़ प्रश्न है। जो विस्तृत समीक्षण की अपेक्षा रखता है। डा० उपाध्याय ने थोड़ा इंगित इस ओर भी किया है यद्यपि उन्होंने इस गूढ़ प्रश्न को स्वीकारोक्ति नहीं दी है। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न कवियों के भाव-प्रकाशन के ढंग भिन्न होंगे। आधुनिक काव्य पर विचार करने से यह मालूम पड़ता है कि ये कविताएं आंख से पढ़ने के लिए लिखी गई हैं, कान से सुनने लिए नहीं। यदि आप कान खोल कर इनको पढ़ते हैं तो आपको हृदय के धड़कने की बीमारी हो सकती है। **'आज कविता की शैली उन व्यक्तियों की शैली हैं जिनके कार्य अशरीरी हो चुके हैं अर्थात् जिनका जीवन निर्वाह शारीरिक परिश्रम पर नहीं होता, जो बैठकर काम ज्यादा करते हैं, Sedentary occupation (सेडेन्टरी ऑकुपेशन) के व्यक्ति हैं, जिनकी अभिव्यक्ति शारीरिक कार्यों का रूप नहीं ग्रहण करती, जिस तरह पुराने आदिमकाल में पत्थर काटते हुए नीग्रो के मुख से कविता फूट पड़ती थी। कहने का अर्थ यह है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में भी कवि का व्यक्तित्व का करता है।"**[2] अतः

१. वही, पृ० ८१

२. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ६८-६९

कवि का यही चेतना-प्रवाही आन्तरिक व्यक्तित्व या विषयीभूत पदार्थ की साधारण्य अभिव्यक्ति, जिसे स्वप्न तत्व कहा गया है, कविता का वह अभिज्ञान है जो उसे ललित साहित्य की संज्ञा प्रदान करता है और सन्तों के ज्ञान, नीति, साधना-परक साहित्य की कोटि से इसे अलग करता है। यदि हम डा० उपाध्याय के इस नये चिन्तन को स्वीकार नहीं करते कि "कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्न है, किसी चीज की अनुभूति या स्वप्न नहीं" तो अपनी वस्तु की अनुभूति को लेकर एक ओर प्रत्येक पाठक के भिन्न साधारणीकरण का प्रश्न उठता है (जो भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के विपरीत है) और दूसरी ओर ज्ञान की अनुभूतियों से भरा सन्त साहित्य भी ललित साहित्य की कोटि में अन्तर्भूत होने लगता है जो काव्य के उन आलोचकों को मंजूर नहीं है जिन्होंने भी आज काव्य के प्रकृतस्वरूप को पहचानने में खरा श्रम किया है।"[1]

---

१. देखिए, साहित्य और कला (श्री भगवतशरण उपाध्याय) पृ० ४७-४८ तथा साहित्य की समस्याएं (शिवदानसिंह चौहान), पृ० ६०

२ कविता का जीवन

कविता के जीवन से मेरा यहां अभिप्रेत वही है, जो काव्यवेत्ता या साहित्य-चिन्तक काव्यात्मा की खोज से रखते रहे हैं। डा० उपाध्याय के मत में कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्नतत्व है,[1] कविता में प्रधानता स्वप्नतत्व की है अर्थात् कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व की।[2] उन्होंने इस अनुभूति, स्वप्न या भाव-तत्व को कवि के व्यक्तित्व-निर्माण की महत्वपूर्ण प्रक्रिया कहा है। पर यह ही कविता का जीवन नहीं है, यह उस कवि का जीवन है जो कविता को जन्म देता है। कवि के इस आन्तरिक व्यक्तित्व की जानकारी अनुभूति और स्वप्न-तत्वों की मीमांसा आलोचक का पक्ष है, आलोचक या पाठक के निकष का निर्माण है। तब क्या कवि अपने इस स्वरूप से भिन्न होकर कविता के जीवन का निर्माता बनता है? संस्कृत के मूर्धन्य आचार्यों ने भी कवि के इस निर्माता-व्यक्तित्व की ओर स्पष्ट शब्दों में लक्ष्य किया है 'सुकविः समाहितचेताः'[3] 'रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः'[4] अर्थात् सुकवि जिसका चित्त अनुभूति में अभिभूत है, कवि जो रस-भाव आदि की विवक्षा से शून्य रहकर कविता लिखना चाह रहा है और अन्यत्र आनन्द-वर्धन के शब्दों में भाव से अतिरिक्त कविता की प्रतिष्ठा के लिए कोई आधार नहीं है—"यत्र रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततोविभावत्वेन।"[5] अर्थात् बिना रस (भाव) के काव्य का कोई प्रकार नहीं हो सकता क्योंकि बिना वस्तु के कोई निबन्धन सम्भव नहीं है। और जगत् की कोई भी वस्तु अन्ततः विभाव रूप से रस या

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ५६
२. वही, पृ० ७२
३. ध्वन्यालोक, ३।१६
४. वही, ३।४०
५. वही, ३।४०

भाव का अंग बनकर प्रस्तुत होती है। सम्भवतः आनन्दवर्धन कवि और कविता के इस घलामेला को अलग करने की ओर अवहितचित्त न हो सके। उनका उक्त कथन कवि के पक्ष को ही प्रस्तुत करता है पर मानते हैं वे उसको कविता का पक्ष। यही कारण है कि एक स्थान पर उन्होंने काव्य की आत्मा ध्वनि को मान्यता दी है और दूसरे स्थान पर रस को ध्वनि की आत्मा कह कर अपने को रस की सत्ता के अभिभूत कर लिया है।[1] अतः आनन्दवर्धन से सही बात का व्याख्यान होते-होते शेष रह गया। उनके परवर्ती आचार्यों ने भी कविता के जन्मदाता कवि के निर्माण-लोक-शब्द-अर्थ को काव्य के शरीर से अधिक मान्यता नहीं दी है।

स्रष्टा और उसका सर्जन (रचना) दो पक्ष हैं। आज की हमारी यह बात न कह कर भी आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में भाव से भिन्न सरणि में कविता (रचना) की सत्ता के प्रति संकेत कर दिया है। उन्होंने कहा है—ध्वनि-प्रपंच के इस व्याख्यान से कवियों के प्रतिभागुण को अनन्तता प्राप्त होगी तथा पूर्व अर्थों से युक्त होने पर भी अथवा पुरातन कवियों के निबद्ध अर्थों को ही प्रस्तुत करने वाली वाणी इन ध्वनि प्रकारों में से किसी एक प्रकार से भी विभूषित होकर नवीनता प्राप्त करेगी।[2] यहां कविप्रतिभा की अनन्तता तथा वाणी की नवीनता दो अलग-अलग पक्ष हैं। एक कवि का पक्ष है, दूसरा कविता का पक्ष है। पर आनन्दवर्धन ने पहले पक्ष के व्याख्यान का ही अधिक विस्तार किया है। आगे भी वे कहते हैं—प्रतिभा की अनन्तता होने पर कवि के लिए अपने निबन्धन-हेतु काव्य-अर्थ की कभी इति नहीं हो सकती[3]—'न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।' पर वाणी के जिस नवत्व की ओर उन्होंने उद्योत के आरम्भ में संकेत किया था उसका भी उन्होंने इसी अर्थ में अन्तर्भाव कर दिया। पुनः वे यह भी कहते है कि भले बृहस्पति ही कवि हो, लेकिन वह किन्हीं अपूर्व अक्षरों

---

१. ध्वन्यालोक १।१, १।२

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः।

२. ध्वन्यालोक २।१९

यस्त्वलक्ष्यक्रमप्रतिममनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः।

३. ध्वन्यालोक, ४।१,२

ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।

अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।

वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥

और पदों की संघटना तो नहीं कर सकता, वे तो वही होते हैं, वे काव्य की नवीनता का अवरोध नहीं करते। अर्थ-वस्तु नूतन होनी चाहिए।[१] अर्थात् आनन्दवर्धन की व्याख्याओं में कवि और काव्य के दो पक्षों का संकेत तो हमें अवश्य मिलता है, किन्तु स्फुटव्याख्यान नहीं है। इसके स्फुट व्याख्यान की उपलब्धि हमें कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' में होती है, जहां कवि का मुख-चन्द्र नाट्यभवन है (कविता की रचना-भूमि है) और वाणी नर्तकी है जो सूक्तियों के विलास के अभिनय से मनोहारिणी बन कर अवतरित होती है।[२] आगे उन्होंने कहा है कि काव्य में एक ही अर्थ का व्यवहार होता है जो सहृदयों को आह्लाद देने वाला तथा अपने भाव-स्पन्दन में सुन्दर है और विवक्षित अर्थ के वाचक अन्य शब्दों के रहते हुए भी काव्य में जो शब्द विलक्षण रूप से अर्थ को उपस्थित कर देता है, वही एक शब्द व्यवहार-योग्य है।[3] अर्थात् बहुत स्पष्ट न कह करके भी इन आचार्यों ने रचयिता और रचना इन दो पक्षों की अलग सत्ता के प्रति अप्रत्यक्ष निर्देश कर दिया है। यहां अर्थ (भाव) कवि की शक्ति है, शब्द (वाणी) कविता की शक्ति है, उसकी संजीवनी है। जल और तरंग के समान वाणी और अर्थ का यह विभाजन बड़ा जटिल है, कवि और कविता की समीक्षा दोनों को अलग-अलग कर नहीं की जा सकती। कविता का जीवन कवि के अस्तित्व से भिन्न नहीं होता है। लेकिन कविता की जो अलग सत्ता है, उसकी निर्माण-क्रिया की पद्धति है, कवि जिसे प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहता है, वह क्या है, इस निबन्ध में आगे यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत है।

भाव ही कविता की जीवनी नहीं है, वह केवल जन्मभूमि है। इसका इदमित्थम् निराकरण तो अब इस ज्ञान-विज्ञान की बदलती दुनियां में होता जा रहा है। अब तो भाव की दुनियां, उसके विश्वास धुंधले पड़ते जा रहे हैं। जिस अगम्य आह्लादक चन्द्रमा से प्रिया के मुख का साम्य स्थापित किया जाता था अब उसे मनुष्य ने छू लिया है,उसकी दूरी वह नाप आया है, कवियों के उपमान से हटकर उसका इतिहास विज्ञान की विजय की मंजिल में दर्ज हो रहा है। अतः, अब स्थिति ऐसी आ गई है कि केवल भाव का ज्ञान कविता का रूप खड़ा नहीं कर सकता। **'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई**

---

१ वही, ३।११

२. वक्रोक्तिजीवित १।१
वन्दे कवीन्द्र-वक्त्रेन्दुलास्य-मन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥

३. वही, १।९

कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।' की बात अब झूठी है। अनुभूति का ज्ञान, जीवन की कुछ बातें करने की चेष्टा करना—कविता को पराजित करना होगा, क्योंकि यह काम तो मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र आदि के वेत्ता ही कर दे रहे हैं। ज्ञान के उपदेश के उपनिबंधन की बात कवि की अक्षमता का उपलक्षण है, उसे तो अब ज्ञान को,अनुभूति के ज्ञान को छोड़कर केवल अनुभूति की प्रेषणीयता पर अपने कवि-कर्म को जीवन देना है। ज्ञान से कभी कविता अनुप्राणित नहीं हुई है। अनुभूति के ज्ञान की प्रेषणीयता तो सरल है पर अनुभूति मात्र की प्रेषणीयता, जिसमें ज्ञान का लवशेष न हो, कविता के निजी स्वरूप का अवतरण होगा। यहां कवि की अनुभूति को कविता से जीवन मिलेगा, कवि से कविता के जीवन मिलने का प्रश्न नहीं है। सर्जन प्रक्रिया की यह पृष्ठभूमि ऐसी है जिसका उदाहरण इतिहास में सर्वत्र सामान्य नहीं होता, ऐसे उदाहरण विरले ही होते हैं। आनन्दवर्धन ने कहा ही है—ऐसी अलोकसामान्य प्रतिभा और उसकी रचना-प्रक्रिया के कालिदास जैसे दो-तीन या पांच-छह महाकवि ही संसार में गिने-गिनाये हैं, जिनकी विशिष्ट प्रतिभा द्वारा मनोहरिणी स्वादु-अर्थवस्तु को सरस्वती स्वयं अभिव्यक्त करती है।[1] सरस्वती द्वारा स्वयं कवि के अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष की अभिव्यक्ति का आधुनिक व्याख्यान डा० उपाध्याय के शब्दों में इस प्रकार होगा। वहां सरस्वती देवता न होकर रचमाण या अवतरण के लिए आतुर कविता है और प्रतिभाविशेष है—अनुभूति के ज्ञान को छोड़ कर अनुभूति भाव की प्रेषणीयता, जो स्वयं में गतिहीन है पर सरस्वती (कविता) का संस्पर्श पाकर जिसका मौलिक स्वरूप अभिव्यक्त हो उठता है—"आज का साधारण विद्यार्थी भी ज्ञान और विज्ञान की उस सम्पन्नता का दावा कर सकता है जो होमर, दान्ते अथवा कालिदास के लिए कभी मुयस्सर नहीं था पर फिर भी वे महान् सृजक थे, वैसे सृजक जिसकी तुलना में भी कठिनता से कोई एक दो व्यक्ति आ सकते हैं। बात सिर्फ इतनी सी है कि वह वस्तुस्थिति को ठीक से समझ ले, कि वह दूसरों की शर्तों पर सृजन की लड़ाई नहीं लड़ेगा, शर्त उसकी अपनी रहेगी तभी वह सृजन-कर्म में में प्रवृत्त होगा। पहले यह बात सम्भव थी (क्यों सम्भव थी यह बताने का अवसर नहीं है) पर अब यह बात नहीं चल सकती। कवि को अब सिमटना होगा, सृजन की क्षमता उत्पन्न करनी होगी, उसे यह विश्वास करना होगा कि रामचरित में काव्यत्व नहीं, काव्यत्व है तो

१. ध्वन्यालोक १।६
सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

कवि में।" "कवि विशुद्ध कवि के रूप में अनुभूति को ही प्रेषणीय बनाता है और अनुभूति के ज्ञान को नहीं। जो अनुभूति के ज्ञान को प्रेषणीय बनाता है, जीवन के सम्बन्ध में कुछ बातें करने की चेष्टा करता है, वह विशुद्ध अनुभूति को प्रेषणीय बनाने में सफल नहीं हो सकता। मैं स्पष्ट शब्दों में कवियों से कहना चाहता हूं कि जीवन के क्षेत्र पर ज्ञान और विज्ञान की विजयवाहिनी के विजय अभियान ने जो स्थिति पैदा कर दी है उसे ठीक तरह से समझें और विज्ञान तथा ज्ञान से कह दें कि तुमसे हमारा कोई विरोध नहीं। तुम्हारा क्षेत्र अलग हमारा अलग। मेरा क्षेत्र अनुभूति है, मैं उसे प्रेषणीय बनाता हूं।"[1]

इस अनुभूति की, (जो कवि में स्थित है) रचना प्रक्रिया कविता का रूप खड़ा करती है। आनन्दवर्धन के शब्दों में उस रचना–प्रक्रिया का संघटन स्वयं सरस्वती उन कवियों के लिए प्रस्तुत कर देती है जो अनुभूति की प्रतीत्येकघनविश्रान्ति में स्थित होते हैं। आज की व्याख्या में सरस्वती अर्थात् कविता, जो कवि के शब्दों में उतरने के पहले अलक्ष्य है उसके इस अवतरण और संघटन को लक्ष्य कर डा०उपाध्याय ने एक उदाहरण दिया है, यह उदाहरण कालिदास की रचना से है —

'विधाता को पार्वती की रचना करनी है। पार्वती की अर्थात् कला-वस्तु की। उन्होंने कौन-सी पद्धति से काम लिया, उनकी सृजनप्रक्रिया क्या थी ? इसका रहस्य कालिदास ने बताया है। इसका रहस्य कालिदास को किस तरह मालूम हुआ ? इस तरह मालूम हुआ कि कालिदास कवि थे; तो विधाता ही थे। विधाता की बात विधाता जाने, इसमें क्या आश्चर्य है। खग जाने खग ही की भाषा। कालिदास कहते हैं—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्यसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥[2]

आप ध्यान से देखे। इसमें Emotional तथा Technical form के individuation की बात जो मैंने की है वह सब इस श्लोक में आ गई है।

---

१. ज्ञान और विज्ञान के संदर्भ में सृजन-प्रक्रिया (डा० उपाध्याय का लेख) सम्मेलन पत्रिका भाग ५४, संख्या २. पृ० १४।१५

२. कुमार-सम्भव १।४९
विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा ने सृष्टि की समस्त सुन्दरता को एक स्थान पर एकत्र देखने की इच्छा से पार्वती की रचना की। उन्होंने नारीसौन्दर्य के सारे उपमानों का सार बटोर कर पार्वती के अंगों में यथास्थान उनको प्रतिष्ठित कर उनके सौन्दर्य को संवारा।

सर्वोपमाद्रव्य समुच्चय में भावनाओं(mood)को समूर्त करने का प्रयास है और यथाप्रदेश-विनिवेशितेन में टेकनीक की बात भी कही गई है। जब mood और टेकनीक दोनों का मणिकांचन संयोग होता है तभी महत्वपूर्ण कलावस्तु का सृजन सम्भव होता है। तभी यह सम्भव हुआ कि ऐसी पार्वती बनीं कि—

चन्द्रंगता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला
द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥१

यह यथाप्रदेश विनिवेशवाली मानसी वृत्ति है जो अपनी तृप्ति की मांग करती है, जिसकी ओर उदासीन रहकर कवि अपने कर्म की पूर्ण सफलता से वंचित रहेगा। मैं उन्हें नाटक का अन्तरंग तत्व मानता हूं अर्थात् टेकनिकल तत्व।[2]

इस टेकनिकल तत्व का अवतरण कविता के क्षेत्र में भाषाक्रान्ति के रूप में होता है। यह भाषा क्रान्ति ही सरस्वती है, कविता है, सांख्यदर्शन की प्रकृति है। आलोचक उपाध्याय जी इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं—' यह जो हमारा कवि है उसमें दो बातें हैं — (१) उसके पास कुछ कथ्य भी है और (२) वह श्रोताओं को प्रभावित भी करना चाहता है। अतः, टेकनीक का भी वह साथ छोड़ नहीं सकता। एक बार जहां टेकनीक का साथ हुआ कि धीरे-धीरे वह प्रधानता धारण करने लगती है और एक समय वह भी आता है कि वह कथ्य को धकिया कर सर्वेसर्वा बन जाती है। कवि कथ्य को छोड़कर टेकनीक से क्यों आसक्ति दिखलाता है ? यह प्रश्न आज इसलिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि आधुनिक कवियों, कलाकारों में टेकनीक की ही प्रधानता हो रही है। लोग, 'शेखर' की भले ही निन्दा करें, आधुनिक कविता को बेढंगेपन पर भले ही कोसें, पर सभी यह स्वीकार करते हैं कि हां, इसमें एक टेकनीक अवश्य है। अतः, यह साहित्यिक आन्दोलन है।

---

१. कुमार-संभव १।४३
चंचला लक्ष्मी पार्वती के जन्म के पहले जब रात को चंद्रमा में निवास करती थी तो वह कमल के गुणों का उपभोग नहीं कर पाती थी और जब दिन में कमल के आश्रय में रहती थी तब वह चन्द्रमा के कान्ति-सुख से वंचित रहती थी। अब जो उसने पार्वती के मुख में निवास कर लिया तो उसे एक साथ चन्द्रमा और कमल दोनों का ही आनन्द प्राप्त होने लगा।

२. इस उद्धरण के लिए देखिए डा० उपाध्याय का निबन्ध—ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन प्रक्रिया, सम्मेलन पत्रिका, भाग ५४, संख्या ३।४ पृ० ११-११

प्रगतिवादियों ने किसी नये टेकनीक का प्रयोग नहीं किया, काव्य-भाषा को किसी तरह का वैशिष्ट्य प्रदान नहीं किया। यह भी एक Symptom है कि उसका आन्दोलन साहित्यिक नहीं था। प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन भाव-क्रान्ति का आन्दोलन नहीं होता, भाषा-क्रान्ति का आन्दोलन होता है। घिसी-पिटी शैलियों का परित्याग किया जाता है. नई शैलियों का आविष्कार होता है, मरे हुए शब्दों में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है।[1]

अर्थात् भाषा-क्रान्ति. भाषा का अवतरण कविता का जीवन है, सरस्वती का साक्षात्कार है। हम डा० उपाध्याय जी के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि 'मरे हुए शब्दों में फिर से प्राण प्रतिष्ठा की जाती है।' शब्द नहीं मरता है अर्थ भी नहीं मरता है दोनों का संयोग मरता है, इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का सिद्धांत-वचन बहुत सटीक है — सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन।' अर्थात् कवि का वह अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति के सामर्थ्य संयोग की घटना घटाने वाला शब्द-कोई ही बहुत विरला होता है। इस संयोग की स्थिति काल और युग होते हैं, यथाकाल यथा-संयोग ही कविता का अवतरण होता है। कालिदास और बाणभट्ट दोनों महान् कवि हैं, कवि के काव्यार्थ का मूलस्वरूप यथाकथंचित् दोनों में ही एक स्रोत से अनुप्राणित है। मेघदूत के अर्थ का विस्तार कादम्बरी है। यही नहीं दोनों का नायक मध्यभारत के ही रामगिरि या उज्जैन में है और नायिका यक्षों-गंधर्वों की नगरी हिमालय में। पर शब्द का संयोग नितान्त नया है। अपने-अपने स्थान में अलोकसामान्य हैं, दोनों के शब्द-प्रयोग की कोई तुलना नहीं है। यही नवीनता, शब्द-प्रयोग की अलौकिकता, भाषा की क्रान्ति है, सरस्वती का साक्षात्कार है, वह कविता है जो कवि को प्रजापति बना देती है।

हिन्दी साहित्य से एक उदाहरण लीजिए। तुलसीदास के रामचरित की रचना के बाद हिन्दी के अनेक भक्त-कवियों ने अवधीभाषा के ही माध्यम से रामचरित का गान दोहा—चौपाइयों में किया, उन पुस्तकों की पाण्डु-लिपियां अपने-अपने वेष्ठनों में सुरक्षित है। उनको हम नहीं जानते, शोध के विद्यार्थी ही जानते होंगे। क्यों? इसलिए कि तुलसीदास ने जिस भाषा वृत्ति में रामचरित के काव्यार्थ को प्रतिष्ठित किया था उसका एक काल, युग और स्थिति थी, वह काल सदा ही नहीं रहा, भाषा और उसकी शब्दावली अपना काल अतिक्रान्त हो जाने पर अपने को ही अतिक्रान्त कर गयी। कदाचित्

---

१. उक्त निबंध, सम्मेलन पत्रिका भाग ५४. संख्या ३-४ पृ० ५३

ऊपर डा० उपाध्याय की शब्दावली में 'मरे हुए शब्द' का प्रयोग इसी इतिहास को लक्ष्य कर है।

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास की सैद्धान्तिक उलझन का—अर्थ कविता है या शब्द कविता है,—इस निर्वचन का 'इदमित्थम्' निर्धारण डा० उपाध्याय के आलोचना-निबन्धों में मिलता है। यह वह समस्या है जो अब तक भारतीय साहित्य–चिन्तन की परम्परा में रस और रस-विरोधी मान्यताओं के एकान्त निर्णय के लिये अनिर्णीत रही है। हमारे इस आलोचक ने बड़ी सफाई के साथ कवि और कविता के घुलेमिले पक्ष की एक विभाजक रेखा स्थापित की है। उनके इस विषय की व्याख्या करने वाले अन्य निबन्ध हैं —'कविता एक दृष्टि', 'क्यूमिंग्स की कविता के आधार पर आधुनिक कविता पर विचार', 'नई आलोचना'।

इन निबन्धों में और सूक्ष्म ढंग से उन्होंने अपने उक्त निर्धारण का पक्ष रखा है, आगे हम उनके सारभूत प्रसंगों को रख रहे हैं। डा० उपाध्याय की इस विषय की प्रस्तावना है, कविता में दो ही चीजें होती हैं—भाषा और भाव। सिडनी से लेकर बहुत हाल तक अर्थात् नई आलोचना के नाम से पुकारे जाने वाली आलोचना के पूर्व तक अर्थात् टी० एस० इलियट तक कोई भी ऐसा आलोचक नहीं हुआ, जो किसी काव्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करते समय बेधड़क यह कहने का साहस कर सका हो कि भावों का यहां पर कोई स्थान नहीं है। जो कुछ है सो भाषा ही है, माध्यम ही है। सभी ने यह बात तो मानली थी कि अन्य लोग अर्थात् वे लोग जो याथातथ्य सूचना देने का काम करते हैं वे भी उसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसका आश्रय कवि लेता है। पर उस भाषा की प्रयोग–पद्धतियों में अन्तर होता है। कवि उन्हीं शब्दों का, कह लीजिए उसी भाषा का, इस तरह प्रयोग करता है कि उसमें एक नूतन शोभा का सन्निवेश होता है। कविता भाषा के सिवा और कुछ नहीं है, भाषा ही उसका प्राणाधायक तत्व है।" [1]

संस्कृत–काव्य शास्त्र के इतिहास में जिसमें अन्ततः रस (भाव) को प्राणाधायक तत्व स्वीकार किया गया, एक अनोखी बात देखने को मिलती है कि उसके प्रथम आचार्य दण्डी काव्य की प्रतिष्ठा, कवियों के मार्ग और

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १०

मार्ग के प्राण दशगुणों में स्वीकार करते हैं।[1] ये मार्ग और गुण भाषा की ही प्रयोग-विधाएं हैं तथा संस्कृत काव्य-शास्त्र का अन्तिम मौलिक-वेत्ता आचार्य कुन्तक, जिसका आविर्भाव (११ वीं शती ई० में) काव्य में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद हुआ, वक्रोक्ति को काव्य को जीवित मानते हैं। वक्रोक्ति अर्थात् भाषा-प्रयोग की भंगिमा। इस प्रकार संस्कृत-काव्य-शास्त्र जिसके चिन्तन का बहुत लम्बा इतिहास और जिसके काव्य-प्रयोगों की हजार वर्ष की परम्पराएं हैं, भाषा को ही लेकर काव्य-तत्व की व्याख्या का सूत्रपात करता है और वक्रोक्ति के रूप में इस आस्था को व्यक्त करते हुए ही अपनी परम्परा का पटाक्षेप करता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलंकारवादी भी हैं, अलंकार का अर्थ हुआ उक्ति-प्रयोग, उक्ति अर्थात्, सूक्ति। यह सूक्ति भी वक्रोक्ति-तत्व का मूल समानधर्मा विकास है। दण्डी ने प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' महाकाव्य को सूक्तिरत्नों का सागर कहा है।[2] कुन्तक के पहले प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि और रस को काव्य-जीवित न स्वीकार कर काव्य में अलंकार की प्राणवत्ता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास भी प्रकारान्तर से भाषा-प्रयोग के प्रति आस्था प्रकट करता है। लेकिन इतना सब होने पर भी नाट्य के रस-सिद्धान्त ने काव्य-शास्त्रियों को इतना अभिभूत किया कि काव्य में स्थिति चाहे जो हो, जहां काव्य की कसौटी का प्रश्न आया कि आचार्य-जन रस और भाव के बटखरे ही उठाते हैं। ऐसा क्यों है? सिद्धान्तपक्ष के अतिरिक्त काव्य में भाषा-प्रयोग की प्रतिष्ठा के अन्य निकर्ष क्या हैं? ये प्रश्न अभी बहुत अछूते पड़े रहे हैं, उन अनेक व्याख्याओं के बाद भी जो व्याख्याएं काव्य में भाषा-प्रयोग की प्रतिष्ठा को लेकर काव्यवेत्ताओं द्वारा की गई हैं। डा० देवराज उपाध्याय के निबन्धों ने इन प्रश्नों के कुछ उत्तर दिए हैं। उन उत्तरों से यह बात आस्था-उन्मुख हो जाती है कि भाषा-प्रयोग ही काव्य को प्रतिष्ठित करता है।

डा० उपाध्याय का कहना है कि काव्य-परम्परा की प्रतिष्ठा, उसके इतिहास का मूल्य, काव्य-रूप में उसके भाव के प्रति भाषा के विद्रोह का इतिहास है— "कविता में दो ही चीजें होती हैं—भाषा और भाव।" प्रारम्भ

---

१. काव्यादर्श १।४०, अस्त्यनेको गिरां मार्गः १।४२ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः १।९ अथो विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् १।१०१ इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्। तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥

२. काव्यादर्श १।३४
महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

में तो कविता भावाक्रान्त रही होगी, भावों की ही गोद में पली होगी, पर जिस तरह बालक शैशवावस्था के अतीत होते ही अपने माता--पिता से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करता है, उसी तरह संस्कृत साहित्य-शास्त्र में कवियों के द्वारा इस तरह की उक्तियों को पढ़ कर मेरी कल्पना होती है कि हो न हो कविता भाव-भार के विरुद्ध प्रोटेस्ट कर रही थी, भले ही वह खुलकर न करती हो, दबी सांसों से ही करती हो, भले ही वह विद्रोह उसके चैतन्य की नहीं, अचैतन्य की आवाज हो और आज तो भाषा और भावों के बीच बाकायदा युद्ध की घोषणा हो चुकी है। भाषा भावों को काव्यक्षेत्र से मार भगाने की चेष्टा कर रही है।" [1]

काव्य-प्रयोगों में भाषा के इस शाश्वत विद्रोह के प्रति प्रमाण क्या है ? इसका आगे चलकर निबन्ध में उत्तर मिल जाता है। उपाध्याय जी कहते हैं--"जहां तक मेरा अपना ख्याल है, मेरे मन में कई बार यह प्रश्न उठा है कि श्रेष्ठ या क्रान्तिकारी कवि किसे कहा जाय ? कवि के सम्बन्ध में कोई विशेषण यदि लगाया जा सकता है तो वह क्रान्तिकारी ही हो सकता है। तो क्रान्तिकारी कवि कौन ? वह जो क्रान्ति की बातें करता है, आज की सामाजिक विचारधारा में आमूलचूल परिवर्तन करने को ललकारता है और नये समाज की रचना की कल्पना देता है, पर जिस भाषा का प्रयोग करता है वह बीते काल की है एकदम घिसी पिटी-पिटाई ? अथवा वह जो दकियानूसी विचारों का समर्थन करता है ? धर्म, पूजा--पाठ की बात करता है। इस जमाने में भी खुदा का नाम लेता है। पर जिसके हाथों पड़ कर भाषा न जाने क्या से क्या हो जाती है ? वह जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है, जो कुछ भोगता है, उन सबकी अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा का आविष्कार करता है अथवा पुरानी भाषा का नया संस्कार करता है।" [2]

उक्त कथन काव्यशास्त्र के अथवा हजारों वर्ष के काव्य--प्रयोगों के उलझे हुए इतिहास की एक ऐसी कुंजी है जिसे हाथ में ले लेने पर कुछ भी अनावृत नहीं रह जायगा--यह जैसे जैसे हम उस इतिहास के द्वार--विहीन भवन में प्रवेश करते हैं प्रकट होने लगता है। यह बात पहले भी कहीं गई है, पर उसका सही स्वरूप पहली बार उपाध्यायजी ने खोलकर काव्यवेत्ता, जिज्ञासुओं के सामने रखा अर्थात् क्रान्तिकारी कवि वह है जो नई भाषा

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १०-११
२. वही, पृ० १३

का प्रयोग करता है। अब हम चाहे संस्कृत कवियों की परम्परा का इतिहास उठा लें अथवा हिन्दी कवियों की परम्परा का इतिहास। उपाध्याय जी के उक्त निष्कर्ष पर पूरा इतिहास आसानी से तोल उठता है।[३]

संस्कृत कविता का इतिहास देखिए। भारवि और माघ ने अपने भाषा-प्रयोग के कारण ही, यमक और चित्रबन्धों का निदर्शन कर अपने ही युग में कालिदास और प्रवरसेन की कीर्ति को अतिक्रान्त कर लिया। बाण की विशेषता भी यद्यपि उनके भाव और वस्तुदर्शन के चित्रण में है तथापि उनकी कीर्ति का वितान नहीं खड़ा हो सकता था यदि उनमें भाषा-प्रयोग का वैचित्र्य न होता। संस्कृत में भाषा-प्रयोग में वैचित्र्य की जो वह क्रान्तिकारी परम्परा चली, उसने कविराज जैसे श्लेप-कवियों को तो काल की धारा में बहने से बचा लिया, किन्तु कितने भाव-कवि और उनकी रचनाएं काल-कवलित हो गईं, जिनकी रचनाओं का ऐतिह्य मात्र सूक्ति-संग्रहों में सुरक्षित अब भी देखने को मिल जाता है। काव्य में रस की प्रतिष्ठा आनन्द-वर्धन और अभिनवगुप्त के काव्य-सिद्धान्तों की व्याख्या के साथ स्थिर हुई। ध्यान देने की बात है कि स्थिरता के बाद संस्कृत में कोई अच्छा महाकाव्य नहीं लिखा गया। श्रीहर्ष का "नैषधीयचरित" जिसको स्वयं कवि ने **'श्रृंगार का अमृत बरसाने वाला चन्द्रमा कहा है,'** काव्य में रस-परिपाक का सुन्दर निदर्शन होने से लोकप्रिय नहीं हुआ है, वरंच उसकी ख्याति और प्रियता उसकी अनूठी उक्तियों, पदों के नूतन प्रयोग-प्रकारों, दर्शन-शास्त्र आदि को भी काव्यविधा से कहने एवं पंचनली (एक छन्द में श्लेष से नल-रूपधारी चार देवों और नल का वर्णन) के कारण है। हिन्दी काव्य का इतिहास तो अभी बन रहा है, जब वह अतीत हो जायगा तब इसके इतिहास में भी वे ही कवि-जन अपनी वाणी की प्रियता लोक में सुरक्षित रख पायेंगे जिन्होंने भाषा के चमत्कारी प्रयोग किये हैं।

भाषा का अभिनव प्रयोग करने वाला कवि अपने अतीत की आने वाली काव्य-परम्परा में कहीं से अलग होकर चमक उठता है। आप पूछ सकते हैं, इस भाषा-प्रयोग से पाठक को क्या लेना-देना है? भाषा-प्रयोग का काव्य लोक-मंगल को कौन सी नई दिशा प्रदान करता है? प्रश्न पाठक का नहीं कवि का है, कवि लोक-मंगल का प्रकाश देता है, उसकी यह कवि-

---

१. भाषाक्रान्ति के सिद्धान्त का आधार लेकर भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा और उसके विकास का विवेचन किस सुगमता और यथार्थ स्थिति के साथ किया जा सकता है, इसके लिये देखिए, मेरा ग्रन्थ, 'हिन्दी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन' पृ० ८१-८१

सामर्थ्य, ऐसी सामर्थ्य, जो उसके अन्तर्हित प्रकाश को पाठक में उड़ेल देगी; तभी सम्भव होगी, जब उसकी वाणी भाषा-प्रयोग के अभिनव प्रकारों में प्रतिष्ठित हो गयी होगी। इस प्रश्न की मूल-व्याख्या उपाध्यायजी के निबन्धों में देखने को मिलती है। अभिनव भाषा-प्रयोग के प्रकार कवि के अन्तर्हित विषयीभूत पदार्थ की अनुभूति या 'स्वप्नतत्व' पर निर्भर होते हैं, कवि पहले अवतरित होता है तब कविता। कवि अपने हृदय में और कविता भाषा-प्रयोग में। कवि की सफलता इसी में है कि वह अपने हृदय-गत जन-मानस को छू लेने वाली बिजली को भाषा के स्वरों में बांध दे। इस निदर्शन को समझने के लिए डा० उपाध्याय जी का यह कथन सहायक होगा :—

"आधुनिक कविता पर विचार करते हुए किसी आलोचक ने संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया :—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्य हस्तरचिता मम मर्करीति,
अन्यापि कापि भाजनमीदृशीनाँ
वैरी न चेत् भवति यदि वेपथुरन्तरायः ।

अर्थात् हे सखि! इस गर्व में मत भूलो कि तुम्हारे कपोलों पर अपने प्रिय के हाथों की बनाई मर्करी-रचना सुशोभित हो रही है। कोई अन्य स्त्री भी इसी तरह के भाग्य का भाजन हो सकती थी यदि सात्विक भाव वेपथु का आविर्भाव अन्तराय के रूप में उपस्थित न हो जाता। यदि यही बात नई कविता प्राचीन कविता से कहे तो उसका क्या उतर हो सकेगा ?"[1]

यहां डा० उपाध्याय ने 'नई कविता प्राचीन कविता से कहे' इस कथन में अपने को कुछ संकुचित-सा कर दिया है। अरे, यह तो शाश्वत सिद्धान्त है। अगर कबीर की उलटबांसी कविता यही बात तुलसीदास की कविता से कहे तो उनके सिद्धान्त की प्रतिष्ठा पर आंच न आएगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि कबीर में ब्रह्ममिलन के सात्विक भाव का वेपथु तुलसीदास से अधिक था इसीलिए उनको उल्टीवाणी का प्रयोग करना पड़ा। अर्थात् कवि के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया में जितना ही घनीभूत परिपाक अनुभूति का होगा, काव्य की भाषा में उतनी ही अधिक नूतनता का निखार होगा। पहाड़ के जितने ही अन्तरतम अन्तराल से झरना फूटेगा उसे उतना ही अधिक अनेक अनगढ़ चट्टानों के नीचे-ऊपर से मार्ग निर्माण कर अपने

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ४७

को प्रकट करना होगा। ऊपर संस्कृत का श्लोक देकर कविता की भाषा-प्रयोग-प्राणवत्ता का जो सटीक उदाहरण रखा गया, उसका उत्तर हमारे पास नहीं है, उनके पास भी नहीं है जो कविता की तुलना वनिता से करके उसकी आत्मा के लिए रस की खोज करते हैं।

डा० उपाध्याय जी के अनुसार कवि के भाषा-प्रयोग और उसकी प्राणवत्ता में दो बातें होती हैं-(१) कविता पर भाषा का जन्मसिद्ध अधिकार है अर्थात् कविता को जन्म देने का अधिकार भाषा को ही है। (२) पर अभी भाषा ने सही कविता को जन्म न दिया, जो कविता अपनी भाषा में पूर्ण हो, जिसकी भाषा की सम्प्रेषणीयता और अनुभूति की अभिव्यक्ति एकाकार हो गई हो अर्थात् भाषा को समर्पित हो गई हो, ऐसी भाषा जिसमें वक्रोक्ति ने अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त कर लिया हो। इन दोनों बातों को किंचित् विस्तार से समझ लिया जाय। पहली बात है-'कविता को जन्म देने का अधिकार भाषा को ही है। भाषा जो कवि की अपनी होती है। आलोचक इसी भाषा को देखता है, पाठक इसी भाषा को देखता है और, कवि इसी भाषा में अवतरित होकर कविता में रूपायित होता है। कविता की यह भाषा जगत् की सृष्टि की भांति व्यक्त होने का माध्यम है, "संसार के जितने जीव हैं वे **अव्यक्तादि, अव्यक्तनिधन** हैं अर्थात् न तो उनके आदि का पता है और न अन्त का। वे केवल **'व्यक्त-मध्य'** हैं। उनके आदि और अन्त का पता नहीं, केवल मध्यवर्तिनी स्थिति का ही परिचय मिल सकता है। मुझसे कोई पूछे तो कहूँ कि यह स्थिति केवल जीवों की ही नहीं, किसी भी रचनात्मक कृति या कला की भी है। **कला भी अव्यक्तादि, अव्यक्तनिधन तथा व्यक्तमध्या है।**"[१] यहां प्रश्न उठ सकता है कि जैसे जो व्यक्त हुआ वह अनन्त ब्रह्म है अथवा उसकी व्यक्ति का माध्यम वह प्रकृतिमय जगत् सृष्टि है, इसी प्रकार कवि की अनुभूतियां, जो भाषा के माध्यम से रूपायित हुई, उनमें कविता कौन है-अनुभूतियां या भाषा। डा० उपाध्याय का उत्तर है भाषा। अभी पहले इस पर विस्तार से विचार हुआ है।" **रचना का जो शब्दार्थाक्षरात्मक स्वरूप है वही हमारे सामने है। उसी अक्षर पर विचार करना चाहिए।**" क्यों ? हम काव्यशास्त्र का इतिहास उलटकर देखलें, क्यों का उत्तर मिल जाएगा। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित किये गये सिद्धान्तों-अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति-में केवल रस का विचार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग की निष्पत्ति से किया

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ६०

जाता है, शेष सभी सिद्धान्तों की व्याख्या भाषा के पद-प्रयोगों एवं उचित प्रयोगों के माध्यम से ही होती हैं ।

अद्वैत सिद्धांत की भांति जो भाव को कविता का प्राण स्वीकार करते हैं, डा० उपाध्याय जी उनके भाव की इस प्राणवत्ता को अस्वीकार नहीं करते, परन्तु यह प्राणवत्ता कवि का पक्ष है, कविता का नहीं,–" कवि किसी जीवित क्षण, जीवित वस्तु, किसी ज्वलन्त स्फुरित कण को अपनी पूरी स्फूर्ति से एतादृशत्व के साथ जब गरम-गरम देखता है तो उसका हृदय आनन्दोल्लास से नाच उठता है । वह उसे पकड़ना चाहता है, शब्दों में बांध लेना चाहता है, यों कहिए कि वह पूरी ईमानदारी के साथ उसे पकड़ कर शाश्वत रूप में अपने तथा अपने पाठक के लिए रख लेना चाहता है । जो कविता इस ईमानदारी से रचित होती है, वही मेरी कल्पना में नई कविता है ।"[1] कवि भाषा को पकड़ना चाहता है शब्द की प्रकृति को अपने अन्तर में बांधने को उत्सुक है, यह अर्थ द्वारा शब्द के संयोग की आतुरता है । क्योंकि इसी प्रकृति से कविता की सृष्टि हो सकेगी । भाषा से अव्यक्त कविता प्राणवान् बन कर स्फुरित होगी । जीवित क्षण, जीवित वस्तु ज्वलन्त स्फुरित कण, स्फूर्ति, एतादृशत्व, आनन्दोल्लास--सभी कवि के पक्ष हैं, जो एक बार में ही कविता की भाषा के किन्हीं अक्षरों के चितवन में एकरूप--रूपान्तरित हो जाते हैं--यह कवि और कविता की सत्ता की विभाजक रेखा है । दर्शन--सिद्धान्त का चमत्कार खड़ा कर परम्परया कविता के जन्म में कवि को, कवि के जन्म में भाव को हेतु बताकर भाव को ही कविता का सर्जक सिद्ध करना दूसरी बात है, असली बात नहीं है । असली बात यह है कि अनुकरण की प्रेरणा से जो भाव शब्दों के माध्यम से नट को रंगमंच पर मिलते हैं, नट अभिनय--व्यापार प्रस्तुत कर उनसे नाट्य में भाव या रस की कथा की अभिव्यक्ति करता है, यह शब्द--अर्थ से मिलने वाली एक उपलब्धि है, शब्दार्थ--मयी कविता की प्राणवत्ता नहीं । उपाध्याय जी का एक साधारण-सा उदाहरण है–

'कृशोदरि तुम इतनी दुबली क्यों हो?
आपको दूसरों की बात से मतलब ?
तो भी कहो मुझे जानकर प्रसन्नता होगी ।
तो पथिक ! घर जाओ । आपकी पत्नी बतायेगी ।

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २१

इतनी जटिल भाषा की क्या आवश्यकता थी। (यह बात कवि को भी शायद स्पष्ट न हो) कि भाव कविता नहीं, शब्द अथवा भाषा ही कविता है—वह भाषा जिसमें शब्द—परस्परविरोधी जटिलता, संघर्ष, खींचातानी और व्याकुलता में आबद्ध रहते हैं और इसी रूप में वह सार्थकता की सिद्धि का लाभ करते हैं। एक विशेष ढंग से भाषा का प्रयोग ही कविता है।"[२]

'एक विशेष ढंग से भाषा का प्रयोग ही कविता है।" न कह कर यदि कहा जाय कि 'कवि द्वारा भाषा की खोज ही कविता है' तो व्याख्या ज्यादा स्पष्ट हो जाती है।

उक्त उद्धरण को यदि रंगमंच के माध्यम से देखा जाय तो चौथी पंक्ति—"तो पथिक घर जाओ, आपकी पत्नी बताएगी" कहने के साथ वियोगिनी के भाव आँखों में आँसू के रूप में ही दीखने लगेंगे। यह व्यापारो—पस्थिति कविता की पंक्ति के बोध में जो सहायता पहुंचाती है, शायद जब इस बोध—साहाय्य की आवश्यकता न होगी, कविता की भाषा स्वयं इसी जैसे रूप में स्वयं उपस्थित होगी तब वह कविता के अपने जीवन का और ही नया उत्थान होगा। इसका स्पष्टीकरण एक उदाहरण से हो जाता है। डा० उपाध्याय ने कवि क्यूमिंग्स की एक कविता उद्धृत की है, जिसमें कवि द्वारा इटली के पार्वत्यप्रदेश में रेलगाड़ी की यात्रा का वर्णन और सूर्यास्त का चित्र खींचा गया है। इसमें कलात्मकता द्वारा कविता के अर्थ—बोध को हृदयंगम करने की रचना—प्रक्रिया का प्रयोग हुआ है। कविता का अर्थ—विस्तार जितना है शब्दों का प्रयोग उतना ही न्यून, पर न्यून शब्दावली अक्षर तथा मात्रा द्वारा संवेदनाओं को जागृत कर एक ही साथ अनुभूतियों का विस्तार कर देती है और अलौकिक काव्यार्थ हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यहां मूल कविता का हिन्दी—अनुवाद देने का प्रयास किया जा रहा है:—

दिवसान्त
रक्तिम प्रकाश-खण्ड—
अन्तराल
से
घोर शान्त पहाड़ियां

---

२. वही, पृ० ८३ —मूल संस्कृत-श्लोक यह है जिसका भाषान्तर ऊपर उद्धृत है
किमिति कृशासि कृशोदरि, किं तव परकीयवृत्तान्तेन।
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति यदि, पान्थ! तव जाया॥

नीले और हरे कागज की बनी हुई
झुलस गईं, नम्र-उद्
ग्रीव
स्वतः
टेढ़ी
पीड़ा की करवट में
मर्मर वृत्त, अ
धः ·······ले·······स
दैत्याकार मूर्त हुआ
काला अज विम्ब-विम्ब वृत्त-वृत्त
आत्मसात् विश्व अब
इस क्षण
अवशिष्ट कुछ भी
नही ? 'रेल क्या
रोम को जाएगी ?'
डोल—
ती, दौड़ती ।[१]

---

१. कविता का मूल अंग्रेजी-रूप

Among
These
red pieces of
day (against which and
quite silently hills
made of blue and green paper
scorch bending them
-selves—U
pcurve E, into
anguish (climb) ing
S - p - i - r - a)
L
and disappear
satanic and blase
a black goat, lookingly wanders
there is nothing left of the world but
into this noth
ing it treroper
Roma si - gnori ?
jerk
ilyr, ushes

इस पर उपाध्याय जी की यह व्याख्या है—संध्या समय है। रेलगाड़ी एक पार्वत्य प्रदेश से होकर दौड़ती हुई जा रही है। शीघ्र ही दिनका अन्त होने वाला है, रात्रि का अन्धकार प्रकाश को छिन्न भिन्न कर अपनी सत्ता की स्थापना करने वाला है। यह बात सही है कि किसी को सर्वथा नष्ट करने के पहले उसे टुकड़े-टुकड़े करना पड़ता है। पार्वत्यप्रदेश में डूबते सूरज की लाल किरणें बीच-बीच में छिप-सी जाती हैं, कहीं प्रकाश है तो बीच में कहीं छाया भी है। अतः, लगता है कि प्रकाश के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। Red pieces of day कहने का यही अर्थ है। और यह आसन्न महानाश की सूचना है। ट्रेन जब इन टुकड़ों से हो कर गुजरती है तो इसमें एक गति का संचार होता है। ठीक वैसी ही जैसी आंच से गर्म होकर ऊपर की ओर मुड़ने वाले कागज के टुकड़े में गति संचारित हो जाती है। अथवा किसी Copper plate पर e या u लिखने वाली कलम में आ जाती है। जब गाड़ी पहाड़ों के एकदम समीप आ जाती है तो उनकी छायाओं ने प्रकाश के लाल टुकड़ों (Into anguish) के सहारे Spiral का रूप धारण कर लिया। उन्हें खिड़की से मुंह सटाकर ही देखा जा सकता है। एकदम पास आ जाने पर तो देखना सम्भव नहीं। अतः, जोर लगाकर जो आँखें उठी थीं वे नीचे जमीन की ओर गिरती हैं। जब यात्री जमीन की ओर देखता है तो एक दैत्याकार बकरे का अनिष्ट दर्शन होता है। वह गाड़ी सर्राटे के साथ उन पहाड़ों से निकल जाती है तो यात्री को ऐसा प्रतिभासित होता है कि दुनिया नेस्तनाबूद हो गई। प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया, सब मर गये और बकरा यम के दूत की तरह सब मरों का स्वागत कर रहा है। वह अपनी चेतना को बटोर कर पूछना चाहता है "मैं कहां हूं।" गाड़ी का हिलना-डुलना (Jerk करना) जारी है। उससे किसी ने पूछा था "महोदय, यह रोम जाने वाली गाड़ी है ?" यह अन्तिम प्रश्न उसे याद है।"[1]

डा० उपाध्याय का कहना है कि इस कविता में अनुभूति का चित्रण है, जिसे हम कविता का मूल स्रोत मानते हैं। हां, सम्प्रेषणीयता की उपस्थिति के लिए कवि बाध्य नहीं है—'परन्तु अब कविता कवि और वर्ण्य विषय के सम्बन्ध की प्रगाढ़ता की कहानी होती जा रही है। यहां भी not juste की प्रधानता तो है पर वह पाठक के लिए नहीं, वर्ण्य विषय के लिए है। कविता अब पाठक के लिए प्रेषणीयता की वस्तु नहीं रह गई। अब इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता कि कवि की हार्दिक अनुभूति को

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ४१

पाठक के लिए प्रेषणीय बनाया जाय। कवि या लेखक के सामने मुख्य प्रश्न है कि अनुभूति की वास्तविकता को किस तरह शब्दों में उतारा जाय ताकि शब्द या वाक्य या भाषा अनुभूतिस्वरूप बन जाय। दोनों में कोई अन्तर न रह जाय। अनुभूति भाषा का स्वरूप बन जाय और भाषा अनुभूतिस्वरूप। पहले की कविता अभिव्यक्ति से आगे बढ़ कर प्रेषणीयता तक भी आ जाती थी। प्रेषणीय होने के लिए अभिव्यक्ति के साथ समझौता भी कर सकती थी, उसका वलिदान भी कर सकती थी। पर अब कविता ऐसा करना नहीं चाहती। वह अभिव्यक्ति पर आकर ठहर जाती है। प्रेषणीयता आ जाय तो उसे कोई आपत्ति न होगी। सच पूछिए तो प्रेषणीयता आ जाती ही है पर वह अनिवार्य गुण नहीं है। प्रेषणीयता के अभाव में भी उसके स्वरूप की हानि नहीं होगी पर अनुभूति के प्रति वेईमानी ? कभी नहीं।"[1]

डा० उपाध्याय के इस सिद्धान्त पर टीका करने के पहले क्यूमिंग्स की कविता पर हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का संक्षेप दे देना भी अच्छा होगा। शुक्ल जी ने क्यूमिंग्स की इस कलात्मकता को संवेदनावाद की संज्ञा दी है, उन्होंने लिखा है—"संवेदनावाद को लेकर सबसे विलक्षण तमाशा कमिंग्ज साहब ने खड़ा किया है। उन्होंने उक्त फरांसीसी प्रवृत्ति के साथ मूर्तिमत्ता का सिद्धान्त मिलाकर पदभंग, पदलोप, वाच्यलोप, अक्षर–विन्यास, चरण–विन्यास इत्यादि के नये नये करतब दिखाए हैं। उनकी रचना का ढंग दिखाने के लिए उनकी एक कविता थोड़े से आवश्यक हेर–फेर के साथ नीचे देता हूँ। यद्यपि उसकी विशेषताएं बहुत कुछ अंग्रेजी भाषा और उसके छन्दों की मात्रा आदि से सम्बन्ध रखती है और हिन्दी में नहीं दिखाई जा सकतीं फिर भी कुछ अन्दाजा हो जायगा। कविता यह है—

सूर्यास्त
सं—दंश
स्वर्ण "गुंन्" जाल
सिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े-बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ४३-४४

और एक उत्तुंग
पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से।[1]

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है, जिसका विषय यह है—समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़ कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुंड-सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देव-मन्दिर के मंडप-सी जान पड़ती है। जिनके भीतर पाठ होता है, बड़े बड़े घण्टे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंद वाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुवा जाल खींचता हो। सूर्यास्त हो जाता है, धुंधलापन, फिर अन्धकार हो जाता है, लोग सोते हैं।

अब किस ढंग से इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिए शब्द-विधान किया गया है, थोड़ा यह देखिए। सं—से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और "दंश" से चमड़ा फटने, पानी की ठंढ और मधुमक्खी के डंक मारने की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधुम-

१. कविता का मूल अंग्रेजी रूप

Stinging
gold swarms
upon the spires
silver
chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
and a tall
wind
is dragging
the
sea
with
dream
—S.

क्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुंर' से गुनगुनाहट या गुंजार को मिलाकर मन्दिरों में होने वाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन से छीटों के 'कलकल' का आभास दिया गया है।.............

वास्तव में कमिंग्ज की इस प्रवृत्ति के मूल में क्या है? काव्यदृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता। सूर्योदय- सूर्यास्त' आदि बहुत पुराने विषय हैं जिन पर न जाने कितने कवि अच्छी से अच्छी कविता कर गये हैं। अब इन्हीं को लेकर जो नवीनता दिखाना चाहेगा वह मार्मिक दृष्टि के प्रसार के अभाव में सिवा इसके कि नये-नये वादों का अंध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाए, पहेली बनाए, और करेगा क्या? पर इस प्रकार के ढकोसलों पर सहृदय-समाज क्यों ध्यान देने जायगा। वर्तमान कवियों में कमिंग्ज का नाम शायद ही कोई लेता हो।"[1]

इन उद्धरणों से भाषा-क्रान्ति के समर्थक वक्रोक्तिवादी डा० उपाध्याय और रसवादी आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण का अन्तर स्फुट हो जाता है। डा० उपाध्याय की दृष्टि में निर्माता कवि समाया है और आचार्य शुक्ल जी की दृष्टि से काव्यदर्शन का जिज्ञासु आलोचक देख रहा है। काव्यदर्शन और काव्य-निर्मिति (निर्मितिमादधती भारती) में अन्तर है।

जैसा कि शुक्लजी ने लिखा कि यह नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता है, बात सत्य है पर नैराश्यपूर्ण नहीं है। नवीनता कविता का स्वभाव है, और उसका उन्मीलन कवि का धर्म। कवि का वक्र-व्यापार अर्थात् नवीनता, संस्कृत काव्यशास्त्रियों द्वारा पूर्णतया समादृत हुआ है, हमारा अभिप्राय कवि के उस व्याकरण-वैदुष्य से नहीं है, जिसके वक्रव्यापार का सहारा लेकर मात्रा-च्युतक, अक्षर-च्युतक, बिन्दुमती आदि कोरी प्रहेलिकाओं की रचना हुई। प्रहेलिकाएं उन कवियों की रचना हैं जिन्होंने व्याकरण जैसे बौद्धिक विषय को काव्य की सीमा में खड़ा कर वैयाकरणों का भी विनोद किया है। फिर ये प्रहेलिकाएं इसी विनोद-साधन के लिए राज-सभाओं में समादृत होती रहीं। प्रहेलिकाओं की बात भी वक्र-व्यापार ही है, पर कवि का वक्र-व्यापार नहीं है। कवि का वक्रव्यापार शब्द-अर्थ की चमत्कारपूर्ण संयोग-घटना है, जो कवि के हृदय की अन्तरतम अनुभूति को रूपायित कर देती है। कुन्तक ने कहा है-कवि के वक्र-व्यापार से युक्त रचना

१. देखिए, रस-मीमांसा, पृ० ११८-१३३

में शब्द-अर्थ की अलौकिक संघटना काव्य है, जो शब्द और अर्थ के मर्म-वेत्ताओं को आह्लादकारी होता है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि-व्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[1]

अतः नवीनता का तिरस्कार नहीं किया जा सकता और कविता की नवीनता का अन्वेषण, नवीनता के लिए उसकी आकुलता नैराश्यपूर्ण या गलत नहीं हो सकती, क्योंकि कविता का यह सहज रूप है, उसकी रमणीयता नवीनता की प्यासी रहती है, नवीनता के बिना उसका जीवन-रमणीयता स्थिर नहीं है–"क्षणे-क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।" अतः, जीवन की सहज प्रकृति का उन्मीलन निराशा नहीं लाएगा, पूर्णता भले न मिले।" इदमित्थम् उपलब्धि उसके हाथ नहीं लग सकती है, पर निराशा नहीं आएगी, उसका कुछ भी सहज उन्मीलन आशाओं का संचार करेगा–

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

सभी कार्यों का प्रारम्भ धूम से अग्नि की भांति आवृत है। पर इस कारण अपने सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। नवीनता (कवि का वक्र व्यापार) कविता का सहज धर्म है, कवि उसका त्याग नहीं कर सकता, वही कवि और कविता का जीवन है। नवीनता (वक्र व्यापार) अर्थात् भाषा-प्रयोग। क्यूमिंग्ज ने इसी भाषा-प्रयोग का सहारा लिया है, और उसकी उपलब्धि क्या है, यह न जानकर भी हम उसके साहस का स्वागत करते हैं क्योंकि उसने अनन्त कविता के एक नए पक्ष का उद्‌घाटन किया। जैसा कि शुक्लजी ने कहा है—यह कविता केवल शब्दों की कलाबाजी या पहेली है, पर ऐसा नहीं है, जिन प्रहेलिकाओं का संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपण हुआ है, कुछ आचार्यों ने जिसको चित्र-मार्ग की संज्ञा दी है, उनसे यह भिन्न-मार्ग की रचना है। संस्कृत की उन प्रहेलिकाओं में, मात्रा-अक्षर-च्युतकों में, बिन्दुमती में शब्द-अर्थ की एकत्र संघटना न प्राप्त होगी। शब्द-अर्थ दोनों का अभिन्न संयोग इनमें नहीं होता, इनमें शब्द-शास्त्र का वह आयास होता है जो अर्थ और शब्द दोनों की तोड़-जोड़ करता है। उनके ही समकक्ष हम सूर के कूट-पद ले सकते है, इनमें शब्द-शास्त्र के आयास पर निर्भर प्रहेलिकाओं की रचना का

१. वक्रोक्तिजीवित १३

स्पष्टीकरण हो जाता है। पर क्यूमिंग्स की कविता वह नहीं है,सच में उस में नवीनता की आकुलता है और बहुत सीमा तक उसने उपलब्धि प्राप्त करली है। हिन्दी में भी क्यूमिंग्स की जैसी कविताएं तो नहीं हैं पर ऐसी नवीनता की ओर आकुल एवं उन्मुख कविता का दर्शन होता है। उनकी व्याख्या के लिए हम उस समन्वित काव्य-शास्त्र की सम्भावना कर सकते हैं जिसमें दण्डी के दश गुर्णो के शब्द-प्रयोग की शालीनता हो, श्लिष्ट पदबन्ध तथा नाद का विधान हो, आनन्दवर्धन की ध्वनि-प्रकिया का, जो पद से लेकर एक मात्रा तक अपना प्रभाव रखती है, समावेश हो और ये दोनों कुन्तक के कवि के वक्र व्यापार में अनुस्यूत हों। और जैसा कि उपाध्याय जी ने कहा है "कवि या लेखक के सामने मुख्य प्रश्न है कि अनुभूति की वास्तविकता को किस तरह शब्दों में उतारा जाय, ताकि शब्द या वाक्य या भाषा अनुभूति स्वरूप बन जाय। दोनों में कोई अन्तर न रह जाय। अनुभूति भाषा का स्वरूप बन जाय और भाषा अनुभूति-स्वरूप।" अर्थात् कविता स्वयं भाषा में स्वायत्त हो जाये। यह कविता का चरम उत्कर्ष है। उपाध्यायजी की यह बात आनन्दवर्धन और कुन्तक के उन निर्वचनों के अत्यन्त निकट है जिनमें उन्होंने अर्थ के अनुरूप शब्द की संघटना करने वाले कवि को विरल तथा महान बताया है, कवि के वक्र-व्यापार में शब्द-अर्थ की युगपत् स्थिति ही काव्य है। क्यूमिंग्स की उक्त कविताओं में भी इसी सिद्धान्त की घटमानता है।

डा० उपाध्याय ने क्यूमिंग्स की कविता के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्यार्थो की युगपत् घटनावधि और शब्द प्रयोग का श्रवण-गोचरता-काल दोनों जिस कविता में एक समान हों, उसकी ही सत्यता प्रमाणित है। शब्द-अर्थ के संयोग की युगपत् घटमानता अन्तिम स्थिति है जिसमें काल-क्षण का अन्तर समाप्त कर अनुभूति और शब्दप्रयोग परस्पर पर्याय हो जायेंगे। उन्होंने इस प्रश्न को इस प्रकार उपस्थित किया है—"नित्य प्रति बोलचाल की अथवा साहित्य की जो भाषा है उसकी नैसर्गिक असंगति पर थोड़ा विचार कीजिये तो पता चले कि वह कितनी झूठी है। हमारी अनुभूति की अभिव्यक्ति के प्रति कितनी उत्तरदायी है। प्रथम तो यह कि यह भाषा समय की खूंट में बंधी है। जब हम कबूतरों के बारे में कुछ कहते हैं तो शब्द एक के बाद एक समय के क्रमानुसार आते जायेंगे और उनके उच्चारण में दो सैकण्ड का ही सही, पर कुछ समय लगेगा ही। पर कबूतरों के देखने की क्रिया में जो अनुभूतियां हुईं वे तो एक ही क्षण में हुईं। मैंने अनु-

मूर्तियां कहीं अर्थात् बहुवचन का प्रयोग किया। इसलिए कि देखने की क्रिया में बहुत सी छोटी मोटी क्रियाएं सम्मिलित हैं । कबूतरों का उड़ना, उनका चक्कर काटना, सूरज की रोशनी का छिड़काव करना इत्यादि क्रियाएं युगपत् रूप में घटी हैं, अलग-अलग नहीं। परन्तु साधारण गद्य के माध्यम से अभिव्यक्ति करने तक के लिए पहले कबूतरों के चक्कर का वर्णन होगा तत्पश्चात् छिड़काव का। मतलब यह कि साधारण गद्य उस पर एक झूठी सामयिक व्यवस्था या क्रम का आवरण डालकर अनुभूति को विकृत कर देगा। साधारण गद्य के प्रयोग में जो एक असत्यता आ जाती है उसे कैसे दूर किया जाए, आज के ईमानदार कवि के सामने यही समस्या है । 'अयमेव प्रश्न: ।'[1] इस अयमेव प्रश्न: की गुरुता हम तब समझ सकते हैं जब वाचिक कायिक, मानसिक तथा आहार्य अभिनय वाले रसाभिव्यक्ति-प्रवण नाट्य के सामने एक मात्र भाषा (वक्रोक्ति) से शक्ति-प्रवण किसी कविता को, दर्शक और श्रोता के भेद से उपस्थित करें। उपाध्यायजी ने नाटक का विश्लेषण नहीं किया है अगर करते तो सम्भवतः यह बात भी कहते।

उन्होंने जहां एक ओर कविता की नई आलोचना या सूक्ष्मेक्षिक अध्ययन को आलोचना के क्षेत्र में नई क्रान्ति बतलाया है वहां आगे बढ़कर यह भी कहा है कि—"मैं अपने मन की चोरी कहूं। जब मैं आज की अंग्रेजी आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ पढ़ता हूं उससे मन में एक बात जगती है कि इसको संस्कृत-साहित्य शास्त्र के वक्रोक्ति सम्प्रदाय से सम्बद्ध करके देखूं और कहूं कि यह नई आलोचना ले-देकर वहीं पहुंच रही है जहां कुन्तक पहुंचे थे अथवा पहुंचने की चेष्टा कर रहे थे।'[2] कदाचित् उपाध्यायजी ने यह उल्लेख न किया होता तो हमें प्रश्न करने का अवसर मिल जाता, क्योंकि इस कथन के एक पृष्ठ पहले उन्होंने 'मेघदूत के श्लोक की नई आलोचना' के सिद्धान्त में जो व्याख्या की है वह व्याख्या ध्वनि और वक्रोक्ति, विशेषतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मापदण्ड से की गई व्याख्या के ही समानान्तर है । इसके लिए कुन्तक का वक्रोक्ति-जीवित उठाकर देखा जा सकता है, जिसमें अन्य श्लोकों की ऐसी ही व्याख्याएं मिल जायेंगी। पर हमें यह प्रश्न करने का अवसर कैसे मिलता, क्योंकि उपाध्यायजी ईमानदारीपूर्वक दूसरे की सत्यता पहले ही कह देते हैं।

काव्य में शब्द की यह महिमा, भाषाप्रयोग का वैचित्र्य समग्र काव्य-शास्त्र के इतिहास की मूल कुंजी है। कविता अपने पुराने शब्दों को छोड़कर

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३९
२. वही, पृ० १०८

आगे बढ़ती रही है, और प्राचीनता के ममत्व का तिरस्कार भाजन उसे होना पड़ता है। पर यह तो जगत् का धर्म है। विना इस तिरस्कार के नवीनता में निखार नहीं आता। हां, कविता की इस नवीनता को हराभरा करना युग के कवि का ही दायित्व होता है।

भाषा की यह प्राणवत्ता, जिसे अपने अभ्युदय के लिए अनेक संकरी गलियों से निकलना पड़ा है, वह केवल कवि की ईमानदारी पर अपनी सत्ता संजो सकती है—'**प्राचीन काव्य में जो भी व्यतिक्रम था, वह वाह्य उपाधिमात्र था। छन्दों की मांग के कारण था, कवि की आन्तरिक ईमानदारी की प्रेरणा का आवेग उसमें नहीं था। सम्भव है कि जिस समय प्रथम-प्रथम कवि कंठ से श्लोक फूट पड़ा हो और 'निषादविद्धांडजदर्शनोत्थ शोक' श्लोकत्व को प्राप्त हुआ हो, उस समय तो आन्तरिक ईमानदारी का प्रेरणावेग उसमें हो बाद में तो लकीर की पीट ही रह गई थी और साहित्य के इतिहास में तो यही लकीर की पीट अधिक देखी जाती है।**'[१] डा० उपाध्यायजी का यह कथन, कविता की खोज में उन्होंने जिस अतल अन्तराल को उलटने में अपने को समर्थ पाया है, उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का प्रमाण है, बहुत ही पते की बात कही है उपाध्यायजी ने सम्भव है कि जिस समय प्रथम-प्रथम कवि कंठ से श्लोक फूट पड़ा हो और 'निषादविद्धांडजदर्शनोत्थः शोकः' श्लोकत्व को प्राप्त हुआ है उस समय तो आन्तरिक ईमानदारी का प्रेरणावेग उसमें हो। सत्य है, आन्तरिक ईमानदारी कवि वाल्मीकि में थी, पर उस ईमानदारी का निर्वाह उसमें सम्भव न हुआ। 'सम्भव' का प्रयोग कर उचित ही प्रश्न खड़ा कर दिया गया है। क्यों? इसलिए कि उनके 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।' श्लोक के व्याख्याताओं ने भी इसे कवि वाल्मीकि के शोक का श्लोकत्व कहा है, क्रौंच पक्षी के शोक का श्लोकत्व नहीं। कवि की पूर्ण ईमानदारी तब भी जब क्रौंच पक्षी के शोक को भाषा में रूपायित कर दिये होता, पर उसने ईमानदारी का ही पालन किया, जब वह समर्थ न हुआ, क्रौंच पक्षी के शोक को भाषा रूप देने में समर्थ न हुआ तो ईमानदारी से केवल अपने शोक को भाषा में उड़ेल दिया। उसके अपने शोक के लिए भाषा मिल सकती थी क्योंकि वह ऋषि था, उसके उस श्लोक में ऋषित्व का विधान है, कवि का विधान नहीं। इस ऋषि को पहली बार उसके अन्तरतम के कवि ने आक्रान्त किया पर आक्रान्त करने में असफल रहा, वह क्रौंच के शोक में ही विलीन हो

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० ४१

गया। अतः, घायल ऋषि द्वारा कविता के स्थान पर, जिस कविता में क्रौंच-वियोग की दशा शब्दों में बोल उठती, ऋषि का दण्डविधान व्याध के लिए श्लोक में गाया जा सका। कवि की असमर्थता और कविता के आदि-जन्म की सम्भावित स्थिति की ओर काव्य शास्त्र के इतिहास में पहली बार यह टिप्पणी ईमानदार आलोचक ने की है। हमें उनके इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर पूर्वग्रह से मुक्त होकर विचार करना चाहिये।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि जब तक भावों से सीधा लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक रूप खड़ा नहीं हो सकता। काव्य में बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय ही हो सकता है।'[१] लेकिन मूर्तरूप रहकर क्या करेगा यदि कविता को जन्म देने वाली समर्थ भाषा ने कवि को न स्पर्श किया। यह ऊपर आदिकवि वाल्मीकि की सम्भावित ईमानदारी के विश्लेषण से स्पष्ट हो गया है। उनके सामने हृदय के भाव से सीधा लगाव रखने वाला मूर्तरूप प्रेमाकुल क्रौंच का व्याध द्वारा वध विद्यमान था। पर उनकी कविता में उस मूर्त रूप का कोई बिम्ब ग्रहण न रूपायित हो सका, केवल ऋषि के हृदय का शोक श्लोक बनकर फूटा। हम यह नहीं कह सकते कि मूर्त रूप (अर्थ) सर्वत्र उपस्थित रहता है, वह एक सस्ता पल है, उसे पा जाना भी कवि की एक उपलब्धि है, लेकिन कविता की उपलब्धि तब है जब कवि शब्द (भाषा-प्रयोग) को अपने मूर्त अर्थ के भाग के लिए जन्म दे सके। उपाध्यायजी ने भाषा की प्राणवत्ता को पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों कसौटियों को दृष्टि में रखकर पहचानने का जो प्रयास किया, वह न केवल नया है, सचाई और गहराई के साथ स्थिर है।

इसके पूर्व अन्य प्रयोगवादी आलोचकों या प्रपद्यवादी कवियों ने भी कविता में शब्द की सत्ता पर अपने विचार प्रकट किये थे पर वे सिद्धान्त को आलोडित न कर सके। अज्ञेय जी लिखते हैं—जिन्होंने शब्द को नया कुछ नहीं दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नहीं—भले ही जो लीक पीट रहे है वह अधिक पुरानी न हो।[१] प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है, यही उसका लक्ष्य है।[२] ये विचार सूत्र—रूप में ही हैं और संस्कृत आचार्यों के सिद्धान्त—सूत्रों से बहुत आगे नहीं है कि उनसे प्रयोग का अन्तराल उबर आये

---

१. रस-मीमांसा पृ० १६०

२. तीसरा सप्तक, पृ० १२

और चिल्ला उठे कि भाषा ही कविता है जो बात अज्ञेयजी ने आज कही है उससे कहीं अत्यधिक आलोक में आज से हजार वर्ष पूर्व आनन्दवर्धन इसे सामान्य बात जैसी कह गये थे—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ।।

(ध्वन्यालोक १।८)

और जब मम्मट—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।

कालिदास की इस कविता में पिनाकी के स्थान पर कपाली शब्द का ही काव्यानुगुणत्व स्वीकार करते हैं,[1] क्या तब कविता का प्राण भाषा में नहीं प्रतिष्ठित हो जाता ? प्रतिष्ठित होता है । पर इन आचार्यों के सिद्धान्त-परीक्षण में काव्यतत्वज्ञ, सहृदयसंवेद्य आदि संज्ञाएं बलात् भाव की महिमा को भाषा के ऊपर प्रतिष्ठित करती हैं । आनन्दवर्धन का प्रतीयमान अर्थ व्युत्पत्ति-विधान मात्र से अभिगम्य नहीं है, इसके लिए काव्यार्थतत्वज्ञता की अपेक्षा है ।[2] आज की भाषा में कविता के नये व्याख्याता अज्ञेय जी भी इस उलझन से बाहर नहीं निकल सके हैं— "वास्तव में नई कविता ने कभी अपने को शिल्प तक सीमित रखना नहीं चाहा, न वैसी सीमा स्वीकार की । उस पर यह आरोप उतना ही निराधार था जितना दूसरी ओर यह दावा कि केवल प्रगतिवादी काव्य में सामाजिक चेतना है, और कहीं नहीं ।"[3] उपाध्याय जी के विस्तृत विवेचन में यह बात साफ हो जाती है कि शिल्प और सामाजिक चेतना के परस्पर विरोध का कोई अवसर नहीं है । कविता का पक्ष-भाषा का शिल्प बहुत स्पष्ट है, सामाजिक चेतना या अन्य पक्ष भाषा में आत्मसात् होकर कविता के पक्ष होते हैं । कवि और कविता की संजीवनियों में उपाध्याय जी की विभाजक रेखा स्वीकार कर ली जाये तो फिर वहां इस चिन्ता की आवश्यकता नहीं है कि "यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि प्रगतिवाद सबसे अधिक समाजग्रही रहा है, पर इसी से

---

१. काव्यप्रकाश, उल्लास ५
२. ध्वन्यालोक १।७
शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते, ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम ।।
३. तीसरा सप्तक, पृ० १७

यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि उस वाद के कवियों में गहरी सामाजिक चेतना, या जैसी है वही उसका स्वस्थ रूप है—उसकी पड़ताल प्रत्येक कवि में अलग करनी ही होगी।"[1] पड़ताल की कोई आवश्यकता नहीं है, छायावाद (जो कविता का भाषाप्रयोग–सिद्धान्त था) के बाद सामाजिक चेतना का सिद्धान्त मुखर करने वाला प्रगतिवाद इतिहास का सत्य है, उसके बाद फिर दूसरा सत्य है कि भाषा के प्रयोग-सिद्धान्त ने प्रयोगवाद या नई कविता के रूप में पुनः अपने को प्रकट किया। डा० उपाध्याय जी ने तो यही कहा है कि **'हो न हो कविता भाव-भार के विरुद्ध प्रोटेस्ट कर रही थी।'** 'कर रही थी' न कह कर 'करती रहती है ?—कहा जाये तो ज्यादा ठीक होगा और काव्य-परम्परा के शाश्वत सिद्धान्त के रूप में यह कथन अधिक सत्य प्रमाणित होगा। भाव-प्रयोग कविता को सदा आक्रान्त किये है, भाषा का शिल्प उसे हटाने का प्रयत्न करता है। विजयी बनता है, फिर भाव से कविता आक्रान्त हो जाती है, भाषा फिर उसे हटाने का प्रयत्न करती है, इस प्रकार भाषा का प्रत्येक नया प्रयत्न कविता को नया जन्म देता रहता है। उपाध्याय जी के कथन को अगर इस प्रकार से विस्तार में रखा जाये तो अनुचित न होगा।

दूसरी बात यह भी है कि आज युग-धर्म इस भाषा-क्रान्ति का साथ साहित्य की रचना में दे रहा है, ज्ञान-विज्ञान की बढ़ती हुई परिस्थितियों में नवीनता की आकुलता, प्रगति की त्वरा सद्यः रूढ़ि को तोड़ देना चाहती है। यद्यपि भाषा-क्रान्ति की प्रतिष्ठा काव्यपरम्परा के शाश्वत धर्म के रूप में अक्षुण्ण है पर आज वह केवल अक्षुण्ण रह कर सन्तोष नहीं करना चाहती। पूर्व युगों की और आज की परिस्थिति में अन्तर आ गया है— "पहले ज्ञान **और विज्ञान के विकास की प्रगति में इतनी त्वरा नहीं थी।** यदि कोई विचारधारा अस्तित्व में आती थी तो वह एक लम्बी अवधि तक जनमानस की भावसत्ता पर अधिकार जमाये रहती थी। वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल में सब काल कुछ सौ वर्षों तक चलते रहे। **पर भारतेन्दुयुग से अब तक न जाने एक दर्जन युग बने और बिगड़े।** यही कारण है कि कवि या कलाकार **इधर दूसरे स्तर पर अर्थात् टेकनीक के स्तर पर काम करता है पर इस घुड़दौड़ में उसे बाध्य होकर इस स्तर पर उलझना पड़ता है।** क्योंकि वही एक सूत्र है, जिसके सहारे वह लहरों के ऊपर अपना सर उठाये रख सकता है।"[2]

---

१. तीसरा सप्तक, पृ० १८

२. ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन-प्रक्रिया, सम्मेलनपत्रिका, भाग ५४. संख्या ३-४, पृ० १४

भाषा की यह क्रान्ति केवल कविता के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य की न्य विधाओं के निर्माण और उनके नवोन्मीलन में भी अपना यही इतिहास-सिद्ध महत्व रखती है। अन्यत्र उपाध्याय जी लिखते हैं— "मेरा ख्याल है कि साहित्य में कथावस्तु के आधार पर उपन्यास क्रान्तिकारी या विशिष्ट पद का अधिकारी नहीं हो सकता, साहित्य मुख्यतः शैली का वस्तु है। वहां जब क्रान्ति आती है तो शैली की राह से आती है। छायावादी क्रान्तिकारी थे क्योंकि शैक्षिक, रैतिक क्रान्ति को लेकर चले थे। प्रगतिवादी क्रान्तिकारी नहीं, क्योंकि वे शैली नहीं, भाव की क्रान्ति को लेकर चले। आधुनिक कविता क्रान्ति-कारिणी है क्योंकि वह शैली में क्रान्ति कर रही है। हिन्दी साहित्य से उदाहरण लें तो हम प्रेमचन्द को क्रान्तिकारी कहेंगे क्योंकि उनके उपन्यास की शैली अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की शैली से भिन्न थी। अज्ञेय और जैनेन्द्र को क्रान्तिकारी कहेंगे। अश्क या यशपाल को नहीं। क्योंकि जैनेन्द्र ने उपन्यास के कथाभाग के विकास के ढंग में, भाषा में, विषय प्रतिपादन के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से तो लोगों का कहना है कि उन्होंने उपन्यास में रहस्यमयता तथा अबौद्धिक तत्वों का समावेश कर उसके पैर को पीछे ही खींचा। उसी तरह हम डा० रांगेय राघव को परम्परा-पालक उपन्यासकार ही कहेंगे, क्रान्तिकारी नहीं, क्योंकि उनकी लेखनी ने किसी भी ऐसे उपन्यास की रचना नहीं की जिसकी शैली की नूतनता हमारे ध्यान को सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर सके।"[१]

उपाध्याय जी ने यहां शैली शब्द का प्रयोग न कर शिल्प या भाषा का ही प्रयोग किया होता तो ज्यादा अच्छा था, उनके द्वारा शैली का प्रयोग गतानुगतिक ही समझना चाहिए। शैली का अर्थ प्रायः भाषा और रीति से ही लिया जाता है और यह रूढ़ि हो गई है। पर उसका जन्म शील से हुआ है। शील और शिल्प में अन्तर है, शील भाव है, शिल्प भाषा है। अस्तु। साहित्य की अन्य विधाएं भी शिल्प और भाषा से अनुप्राणित होती हैं, जैसे कि कविता। उपन्यासकार की ज्ञान-सम्पन्नता से उपन्यास चमत्कृत नहीं होता, उसकी अनुभूति के उद्रेक से उपन्यास की अभिकला और शब्द-शिल्प में जो नूतनता आती है, उससे उपन्यास का जीवन अमर होता है। ज्ञान-सम्पन्नता की उपादेयता शास्त्र के लिए है, कविकर्म के लिए नहीं। सच्चा कवि भाषा-प्रवण होता है, शब्दब्रह्म का योगी होता है। यही कविता का जीवन है।

---

१. डा० रांगेय राघव, उपन्यास : मेरी मान्यताएं, पृ० ४६

३

आनन्द, रसास्वादन या रहस्य-दर्शन

कवि की उपलब्धि अथवा कविता की संजीवनी को लेकर भारतीय आचार्यों ने रससिद्धान्त की बड़ी चर्चा की है। यद्यपि रस के व्याख्यान का पहला श्रीगणेश भरत ने नाट्य-शास्त्र के सदुपयोग में किया तो भी परिवर्ती साहित्य-चिन्तन की परम्परा में वह कवि की प्रत्येक कृति नाटक, कथा, काव्य-सभी के लिए रूढ़ हो गया। पहली बार रुद्रट ने, भरतमुनि के लगभग आठ सौ वर्षों बाद काव्यशास्त्र में स्वतन्त्ररूप से रस-चिन्तन को स्थान दिया, उसके बाद तो पण्डितराज जगन्नाथ तक आठ सौ वर्षों की लम्बी अवधि में भारतीय काव्य-चिन्तन की प्रत्येक प्रतिमा रस से सिक्त होकर श्लंय होती रही है। रस को ही काव्य का परम तत्त्व, प्राण अथवा संजीवनी स्वीकार कर आचार्यों ने अपने को काव्यलक्षण में प्रवृत्त किया है। इसका लाभ जो हुआ हो, पर दुष्परिणाम भी हुआ है कि इस चिन्तन के क्षेत्र में हमारी प्रगति अवरुद्ध हो गई है तथा काव्य-जीवन में स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाली सत्ताओं की विकृत व्याख्या भी होती रही है, जिससे रस का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहे। इस प्रकार काव्य-जीवन की तथा कवि-प्रतिमा की प्रयोग-भूमियों का सहज एवं नवीन उन्मीलन उपेक्षित होता रहा है। कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उपेक्षा भी इसी प्रवाह में हमारे चिन्तकों ने की है।

तत्कालीन साहित्य-चिन्तन में रस की ऐसी ऊंची प्रतिष्ठा के दो कारण थे—एक तो यह था कि खींच-तान कर रस की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई। भरत के नाट्यशास्त्र में रस के स्वरूप का जो विवेचन है, उसको लेकर कई आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से रस-निष्पत्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। भरत का सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः,'[1] जो रस का मूल लक्षण है, ऐसा जटिल नहीं है कि लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अन्य आचार्यों की अनेक व्याख्याएं उसे सुलझा न सकीं तथा अभिनवगुप्त

1. नाट्यशास्त्र ६।३१

को सभी व्याख्याओं का निराकरण कर अपनी नई निर्दोष व्याख्या देनी पड़ी। वरंच उसकी जटिलता का जन्म आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण में होता है। सूत्र के दो शब्द—'संयोग' और 'निष्पत्ति' इस जटिलता के मूल आधार हैं, इन शब्दों का भिन्न-भिन्न बोध आचार्यों ने ग्रहण किया और उनके अर्थ-बोध की जटिलता ने रस-सिद्धान्त को श्रेय प्रदान किया है। वह युग दार्शनिक-चिन्तन से ओतप्रोत था, ईश्वर की सत्ता के प्रतिष्ठापन तथा स्वरूप के प्रति श्रद्धा-आकुल जन-मानस की भूमि में कोई भी दार्शनिक-चिन्तन बिना आकर्षण उत्पन्न किये नहीं रहता था। रस की दार्शनिक व्याख्या ने वही आकर्षण पैदा किया। भरतमुनि ने अपने सूत्र में आये 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' व्यापार के सम्वन्ध में दो दृष्टान्त दिए हैं—एक तो गुड आदि द्रव्यों तथा अनेक औषधियों के संयोग से मिलाकर पकाये गये षाडव रस[1] का तथा दूसरा उस व्यंजनयुक्त भात का[2], जो ऐसी ही अनेक वस्तुओं तथा दही, कांजी आदि व्यंजनों के संयोग से पक कर विलक्षण स्वाद देता है। दोनों ही दृष्टान्त लौकिक हैं। सम्भवतः भरतमुनि के प्राचीन टीकाकारों ने इन दृष्टान्तों के अनुसार रस के आस्वादन में तीन कोटियों की कल्पना की थी—आत्मा (आस्वाद करने वाला), रसना (आस्वादन क्रिया), (क्रिया का साधनभूत) मन और रस के आस्वाद में उन टीकाकारों ने आत्मा की तीन प्रकार की स्थिति की ही तीन कोटियों स्वीकार कर ली थीं, अर्थात् आत्मा ही स्थानान्तर में संक्रान्त होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन ही पुनः स्थानान्तर में संक्रान्त होकर रसस्थानीय हो जाता है।[3] पर अभिनव गुप्त को यह व्याख्या पसन्द नहीं आई। इस प्रकार से यह नाट्यरस एक लौकिक चमत्कार से भिन्न नहीं रह जाता था, क्योंकि कार्य-कारण का सम्वन्ध ही इसकी प्रस्तुति कर रहा है। रस उनकी दृष्टि में कार्य नहीं है। ज्ञाप्य भी नहीं है। उन्होंने दर्शन विज्ञान का सहारा लिया। भरत के दोनों दृष्टान्तों के लिए उन्होंने यह कहा कि ये दृष्टान्त रस के प्रतिपादन में गौण रूप से सादृश्य समझाने के लिए

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ रस-सूत्र की वृत्ति
यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुयन्ति !

२ वही, यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम !
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जना: !!

३. उक्त में से प्रथम की अभिनव भारती—
एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां यत्कैश्चिदत्र चोदितं दृष्टान्ते आत्मा, रसना, मनश्चेति त्रयम्, प्रकृते तु रसनैवेति। परिहृतं च, आत्मन एवात्र स्थानान्तर-संक्रान्तस्य मनःस्थानीयता, मनसश्च रसस्थानीयतेति। तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम्। उपचारस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। इत्यास्ताम्।

हैं, रस के तत्वतः दृष्टान्त नहीं हैं। क्योंकि षाडव रस और व्यंजनयुक्त भात का आस्वाद रसना से लिया जाता है, परन्तु रस रसना का व्यापार नहीं है, केवल मानस व्यापार है और यह मानस व्यापार शृंगार आदि रस के आस्वादन में पूर्णरूप से विद्यमान रहता है, क्रियाशील रहता है अर्थात् विलक्षणतायुक्त होकर भी लक्षणयुक्त हैं—एतदुक्तं भवति, न रसनाव्यापार आस्वादनमपितु मानस एव। स चात्राविकलोऽस्ति। केवलं लोके रसनाव्यापारान्तरभावी स प्रसिद्ध, इत्युपचार इह दर्शित इति। अभिनवगुप्त ने रस की स्थिति कार्य और ज्ञाप्य (घट आदि) से भिन्न बताई, उन्होंने कहा रस्यमानता (आस्वाद्यमानता) मात्र ही रस का जीवन है, न वह उसके पहले है और न बाद में, जैसा कि 'कार्य और ज्ञाप्य आदि के सम्बन्ध में कहा जाता है। नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात्? एवं युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ, न प्रमेयादिस्वभावः। तथा उनकी दृष्टि में भरत के मूल सूत्र में निष्पत्ति शब्द आस्वादन की निष्पत्ति के लिए है, रस की निष्पत्ति के लिए नहीं—तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्? नेयं रसस्यापितु तद्विषयरसनायाः। इस प्रकार 'रस्यमानता' काल में स्थित यह रस मिथ्या नहीं हैं, लौकिक भी नहीं है। ऐसा भी नहीं है, जिसकी व्याख्या न हो सके। व्याख्येय है पर लोक में इसके सदृश कुछ नहीं है, लोक में इसके सदृश कुछ नहीं है अतः, तो क्या इसको आरोप से समझते हैं, अनुभव करते हैं, पर ऐसा भी नहीं है। इतनी प्रकार की परस्पर विरोधी स्थितियों की एकत्र संगति अभिनवगुप्त की रसप्रतिपत्ति है, जो अपने दार्शनिक दृष्टिकोण और उसकी विलक्षणता के कारण, जो गहन पाण्डित्य एवं सूक्ष्म विज्ञान के साथ प्रस्तुत है, परवर्ती साहित्य-चिन्तकों को अपनी सीमा में उलझाये रही है और वे उससे बाहर नहीं निकल सके हैं। इस दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रति अभिनिवेश इतना तीव्र रहा है कि रस के व्याख्याताओं ने उसे अधिक से अधिक ब्रह्मास्वादसहोदर सिद्ध करने का प्रयास किया है। भट्टनायक ने इस रस की उपलब्धि को समाधि-जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कहा है—काव्यरस तो वाणी-रूपी गौ से कवि-वत्स की भावुक तृष्णा देखकर अपने आप निष्यन्द होने लगता है, दूसरी ओर योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार अत्यन्त कठिन साधना के बाद होता है। अतः काव्य-रस से उसकी तुलना सम्भव नहीं है।[1] दूसरों ने इसकी व्याख्या में वेद-वचन 'रसो वै सः' की अवतारणा कर भरत के इस नाट्य-रस को उस परमतत्त्व से भिन्न नहीं माना है।

---

1 ध्वन्यालोक १।६ की लोचन टीका में भट्टनायक की कारिका—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥

रस-चिन्तन के इस व्यापक प्रचार में उक्त दार्शनिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त बहुत बड़ा सहयोग नाटक, उसके अभिनय तथा अभिनयों के संरक्षक-संयोजक राजवंशों का रहा है। नाटक के ही नायक-नायिका और रस की अवतारणा काव्यलक्षण के क्षेत्र में हुई। पहली बार रुद्रट (नवीं शती ई०) ने की काव्यालंकार के अध्याय १६ में नायक-नायिका तथा रस का व्याख्यान अत्यंत अभिनिवेश के साथ किया। उसी अभिनिवेश से उन्होंने राजा के विलास तथा उसकी कीर्ति को महाकाव्य के लक्षण में भी स्थान दिया है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय नाट्य-कला का जन्म युवा-युवतियों की प्रेम-कथाओं से हुआ है। राजाओं के आश्रित नाटक का अभिनय विलास का एक सुसंस्कृत प्रदर्शन था जो उनकी दिनचर्या के अनुकूल होता था। ये नाटक अधिकांश में प्रेम-कथाओं से संजीवित होते थे। ये कथाएं चाहे लौकिक हों या पौराणिक। और जो संस्कार, संस्कृति अथवा चिन्तन राज-आश्रय से पल्लवित होते थे, उनकी लोकमान्यता अपने-आप सिद्ध हो जाती थी। रस-चिन्तन की लोकप्रियता तथा इसके बहुल चिन्तन के पीछे भी रह इतिहास है।

विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव के संयोग तथा उसके द्वारा इस निष्पत्ति के पक्ष को ले कर जो तात्त्विक चिन्तन हुआ, उसकी एक परम्परा अभिनवगुप्त (१०वीं शती) के पूर्व स्थापित हो चुकी थी। अभिनवगुप्त के अतिरिक्त तीन प्रमुख चिन्तकों का मत इसकी व्याख्या में उद्धृत किया जाता है। ये चिन्तक हैं—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक। रस की व्याख्या के तात्त्विक चिन्तन की मूल प्रेरणा अथवा बौद्धिक उद्रेक सम्भवतः यह रहा होगा—नाटक में जिसका अभिनय किया जाता था वे पात्र भूतकाल के होते थे अथवा वे वर्तमान के भी हों तो रंगमंच पर उनकी अवतारणा होती नहीं थीं, उनकी वेशभूषा बनाकर उनके जीवन की घटनाओं का अनुकरण ही रंगमंच पर किया जाता था। उन घटनाओं में, चाहे वे प्रेम-कथा की हों, अथवा वियोग व्यथा की हों, जो भी हो, उनके अभिनय काल में दर्शक को प्रत्यक्ष अनुभूति एवं तल्लीनता की उपलब्धि होती थी। यह जानते हुए भी कि रंगमंच पर यह सब अनुकरण हो रहा है, उसमें तल्लीनता, उसकी अनुभूति में विभोर होना, प्रत्यक्ष आनन्द की स्थिति आदि एक विचित्र मानसिक व्यापार था। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नाटक के दर्शक का मानसिक व्यापार कथा या काव्य के पाठक के मानसिक व्यापार से भिन्न होता था। पाठक तो अतीत में या कथा और काव्य के देश-काल में अपने मन को ले जाकर तब अपने को विभोर कर पाता है, पर नाटक का दर्शक देश-काल की सीमाओं को

लांघकर घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा होता है और तदनुरूप उसके मन में अनुभूतियों के व्यापार होते रहते हैं। रंगमंच पर दर्शक की प्रत्यक्ष और सत्य अनुभूति एक विचित्र उपलब्धि थी, क्योंकि रंगमंच पर अभिनीत घटनाएं अनुकरणात्मक थीं, वास्तविक नहीं थीं, उन्हें असत्य भी कह सकते हैं, तब अनुकरण से प्रत्यक्ष की, असत्य से सत्य की यह उपलब्धि किन स्थितियों का परिणाम है ? रस-आस्वाद के व्याख्याताओं ने इस प्रश्न के उत्तर में अपने तात्त्विक चिन्तन, तर्क और सैद्धान्तिक निरूपण का नूतन आरम्भ किया।

भट्ट लोल्लट का कहना है कि भरत के सूत्र में 'संयोग' पद का अर्थ है—विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भावों का स्थायी भाव से संयोग, तथा उस संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। यह संयोग की क्रिया विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों से स्थायी भाव को उपचित अर्थात् प्रबुद्ध या परिपुष्ट करती है, यह प्रबुद्धता या परिपुष्टता ही रस है। केवल स्थायी भाव की अवस्था अपरिपुष्ट की स्थिति होती है। इस प्रकार रंगमंच पर परिपुष्ट स्थायी भाव-रूप रस दर्शकों द्वारा आस्वादित तो होता है, पर लोल्लट ने उसकी विद्यमानता को केवल नट और नट जिसका अनुकरण करता है अनुकार्य राम आदि में ही स्वीकार किया। मुख्यरूप से अनुकार्य राम में, गौण रूप से अनुकरण कर्ता नट में।

लोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त भी कहते हैं, अर्थात् रस संयोग-विशेष से उत्पन्न होता है।

शंकुक ने इसका प्रतिवाद किया और इसकी उत्पत्ति के खण्डन में कई अच्छे तर्क दिये। उनकी अपनी व्याख्या न्याय-दर्शन-अनुमान पर अवलम्बित है। उनका मुख्य तर्क यह है कि स्थायी भाव रस नहीं हो सकता। पहली बात यह है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव—ये सभी स्थायीभाव के अनुमापक हेतु हैं, उनके बिना इसकी प्रतीति नहीं होती—भट्ट लोल्लट का यही कहना है। लेकिन जब प्रतीति हुई तो वह रस रूप थी, स्थायीभाव नहीं थीं। अतः, प्रतीति तो रस है और प्रतीति के पूर्व वह स्थायीभाव की सत्ता है, इसका क्या प्रमाण है ? और करुण रस में शोक स्थायीभाव का क्रमशः ह्रास होता है, उपचय नहीं, फिर करुण रस की उत्पत्ति असंगत हो जायगी आदि।

शंकुक के मत में स्थायी भाव की अनुकरणरूप परिणति रस है। अर्थात् अनुक्रियमाण स्थायीभाव का नाम रस है (रतिरनुक्रियमाणा शृंगारः)। रस-बोध की प्रक्रिया इस प्रकार हुई—रंगमंच पर नट अनुकर्ता है। उसके द्वारा

शिक्षा-अभ्यास-पूर्वक अभिनीत विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी कारण हैं। यद्यपि ये अभिनय किये जाते हैं और कृत्रिम ही होते हैं, पर कृत्रिम न होकर वास्तविक प्रतीत होते हैं, ये लिंग हैं जो अनुकर्ता नट में स्थित होकर अनुमान द्वारा उस स्थायीभाव की प्रतीति दर्शक को करा देते हैं, जो स्थायीभाव मुख्य—अनुकार्य राम आदि नाटकीय पात्रों में स्थित होता है, तथा अनुकर्ता नट में केवल उसका अनुकरण रहता है। इस प्रकार रामादि में स्थित स्थायीभाव अभिनयकर्ता नट में अनुकरण किये जाने पर रस-रूप प्रतीत होता है। यह प्रतीति सम्यक् , मिथ्या, संशय सादृश्य से विलक्षण (भिन्न प्रकार की) होती है, अर्थात् न तो यह प्रतीति होती है कि नट उस अनुकार्य राम के सुख का भोक्ता है. और न यही राम है यह प्रतीति होती है, यह सुखी नहीं है यह प्रतीति भी नहीं होती, यह राम है या नहीं, इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं होती। इनसे भिन्न जो सुखी राम है वह यह नट है—इस प्रकार की प्रतीति दर्शक को होती है। लोल्लट की भांति यहां भी रस की प्रतीति का स्थल रंगमंच का नट होता है, सामाजिक नहीं। शंकुक के इस मत को अनुमिति-सिद्धान्त भी कहते हैं। भरत के रस सूत्र में आये संयोग पद का अर्थ यहाँ 'अनुकरण' और 'निष्पत्ति' की प्रतीति लेना चाहिए।

अभिनव गुप्त और भट्टनायक दोनों ने समान रूप से शंकुक के सिद्धांत की आलोचना की है। अभिनवगुप्त का कहना है कि शंकुक के सिद्धान्त के अनुसार दर्शक को जब रंगमंच पर यह राम है—ऐसी प्रतीति हो जाती है तब उत्तरकाल में बाध का अभाव होने से रामचरित-सम्बन्धी-नाटकों में तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिए। जो होता नहीं। और यदि बाध की उपस्थिति मानते हैं तो यह मिथ्या ज्ञान सिद्ध हो जाता है, उस अवस्था में रस की प्रतीति ही नहीं होगी। तत्त्वज्ञान या मिथ्याज्ञान के अतिरिक्त यहां तीसरा मार्ग नहीं होगा। एक में दर्शक रस की प्रतीति के बहुत आगे निकल जायगा, दूसरे में रस-प्रतीति का अवसर ही नहीं होगा। अतः, रसस्वादन की सिद्धि में शंकुक का सिद्धान्त असंगत ठहरता है।

अभिनवगुप्त ने इस सम्बन्ध में कई विप्रतिपत्तियों की व्याख्या की है। एक सामान्य बात यह है कि अनुकरण देखी-सुनी हुई वस्तु या तथ्य का होता है, रंगमंच पर जिसका (राम, सीता आदि का) अभिनय किया जा रहा है। उसका प्रत्यक्ष अनुभव या दर्शन न तो दर्शक को है, न नट को है, फिर उसका अनुकरण कैसे किया जा सकता है। यदि अनुकरण का अर्थ

पश्चात्करण, बाद में की जाने वाली नकल है, तो रंगमंच के नट में ही क्यों. सामान्य लोक में भी रामादि की रति का अनुभव या अनुकरण होता है और इस सिद्धान्त में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा।

जब हम यह कहते हैं कि नट में रति स्थायीभाव का अनुकरण रस है तब प्रमाणपूर्वक उसकी उपलब्धि का कोई चिह्न नहीं मिलता। नट के अनुकरण-अभिनय के ये प्रकार हैं-शरीर के वेशभूषा-आभूषण, मुकुट आदि, शरीर के अनुभाव-रोमांच, कण्ठ भर जाना, भुजाक्षेप भ्रूकटाक्षादि। पर ये शारीरिक अनुकरण हैं, इनका ग्रहण दर्शक आंख-कान से करता है। रति (स्थायीभाव) चित्त की वृत्ति है। इन शारीरिक अनुकरणों में उसका बोधन नहीं होता, उसका ग्रहण इनसे भिन्न-इन्द्रिय मन से होता है। तब यहां रति के अनुकरण की प्रक्रिया क्या है, जिसे शंकुक ने रस कहा है, क्योंकि अनुकार्य (राम) की रति को अनुकर्ता (नट) अथवा सामाजिक किसी ने देखा नहीं है, बिना मूल वस्तु को देखे उसके अनुकरण का अनुभव कोई कैसे करेगा ? और यदि यह कहा जाय कि नट-गत जो रति की चित्तवृत्ति है, उसका अनुकरण ही शृंगार रस है तब उसे अनुकरण नहीं कहना चाहिए, वह तो प्रत्यक्ष रति है। क्योंकि जिन प्रमदा आदि कारणों, कटाक्ष आदि कार्यों से लौकिक रति अनुभव में आती है, वही कारण, कार्य नट-गत रति-चित्तवृत्ति का भी अनुभव कराते हैं, वह रति ही रस है, अर्थात् प्रत्यक्ष रति रस-रूप में गृहीत हुई, अनुकरण रूप नहीं। ऐसा मान लेने पर आगे और भी विसंगतियां उठती हैं। राम की रति वास्तविक है, सीता आदि विभावादि भी वास्तविक हैं, नट, उसकी रति, उसके विभाव आदि कृत्रिम हैं—दोनों का यह भेद स्वीकार कर नट की रति को यदि अनुकरण कहें तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नट के कार्यों को दर्शक (सामाजिक) यदि कृत्रिम रूप में ग्रहण करता है, तो विशिष्ट सुशिक्षित दर्शकों के लिए ही रति की प्रतीति सम्भव है, अनुशिक्षित कृत्रिम-क्रिया से मूल तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः, स्थायीभाव का अनुकरण रस नहीं है।

भट्टनायक ने भी अनुकरणात्मक रस-प्रतीति को असंगत ठहराया है। प्रथम विशेष उपपत्ति यह है कि उनके मत में रस का आस्वादन स्वगत अर्थात् सामाजिक का पक्ष है, परगत (नट आदि) का नहीं। रस की प्रतीति होती है, जब हम यह स्वीकार करते हैं तब सामाजिक में करुण रस की प्रतीति से उसे दुखी होना चाहिए। पर ऐसा होगा नहीं। राम सीता के वियोग में दुखी हैं। नाटक का यह दृश्य सामाजिक को दुखी नहीं बनाएगा, क्योंकि सीता

का विभाव सामाजिक का नहीं है और उस अभिनय काल में सामाजिक को अपनी स्त्री की स्मृति न होगी। दूसरी बात यह है कि नाटक में देव-पात्रों द्वारा समुद्र-लंघन आदि जो असाधारण कार्य दिखाये जाते हैं, सामाजिक में उनका साधारणीकरण नहीं हो सकता। तीसरी बात यह है कि रस की प्रतीति को स्मृति नहीं कह सकते। स्मृति पहले कहीं उपलब्ध ज्ञान की होती है, रंगमंच की कथावस्तु राम आदि का चरित सामाजिक द्वारा पहले कभी देखा नहीं गया है। परोक्ष ज्ञान के रूप में रस की प्रतीति यदि अनुमान से जानी जाए तो उसमें प्रत्यक्ष ज्ञान की सरसता नहीं आ सकती। और यदि हम प्रत्यक्ष प्रमाण से रस की प्रतीति स्वीकार करते हैं तो उसमें रसास्वादन के आनन्द के स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से नायक-नायिका की रति देखकर लज्जा, जुगुप्सा आदि वृत्तियों का मन में उदय होगा। इसलिए अनुभव, स्मृति, परोक्ष, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से रस की प्रतीति युक्ति-संगत नहीं है।

इसी प्रकार भट्टनायक ने रस की अभिव्यक्ति होने का भी खण्डन किया है। यदि हम पहले से स्थित रस को बाद में विभाव अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त होना मानते हैं तो जैसे मन्द प्रकाश में वस्तु कम स्पष्ट रहती है, तेज प्रकाश में अधिक स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार विभाव अनुभाव आदि की साधारण तथा प्रवृद्ध स्थिति के अनुसार रस की अभिव्यक्ति भी न्यून और अधिक रूप में होगी, जो स्वीकार नहीं हो सकता, क्योंकि रस अखण्ड तथा एकरस है।

भट्टनायक के अपने सिद्धान्त की नई विशेषता यह भी है कि वे काव्य और नाट्य दोनों में रसास्वाद की एक समान व्याख्या करते हैं। लोल्लट और शंकुक ने यह नहीं किया था। उनका अपना सिद्धान्त इस प्रकार है—काव्य में काव्य के लक्षण की समग्रता से तथा नाटक में चार प्रकार के अभिनय की प्रस्तुति से पाठक अथवा दर्शक सामाजिक के अन्तःकरण में स्थित मोह, संकट, दुश्चिन्ता आदि का निवारण हो जाता है और तब काव्य अथवा नाटक में उपस्थित विभाव, अनुभाव आदि सामाजिक के लिए विशेष न रहकर सर्व-साधारण हो जाते हैं, रसास्वाद में यह प्रथम साधारणीकरण रूप अभिधा-व्यापार है। इसके बाद दूसरे अंश पर उपस्थित भावकत्व व्यापार द्वारा सामाजिक के अन्तःकरण में रस भाव्यमान होता है, भाव्यमान अर्थात् विशिष्ट से साधारणीकृत बन जाता है। यह भाव्यमान रस अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण है, रज, तम गुणों के मेल से इसमें द्रवीभाव, विस्तार और विकास होता है, सत्व की प्रधानता के कारण, प्रकाश और आनन्दमय स्वरूप में मन

की विश्रान्ति—यही इसका अभिज्ञान है, इस इसकी विश्रान्ति की तुलना परब्रह्म के साक्षात्कार से की जा सकती है। इस प्रकार का वह भाव्यमान रस मन के इस तीसरे भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित होता है। भट्टनायक के अनुसार रसास्वाद की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं—अभिधा का साधारणीकरण, भावकत्व (रस की साधारणीकरण भावना) तथा भोजकत्व (प्रकाश—आनन्दमय विश्रान्तिलक्षण आस्वाद)।

भरत के रस-सूत्र में आये 'संयोग' पद का अर्थ यहां भाव्यमानता और 'निष्पत्ति' का भोजकत्व है।

रसास्वादन में जो मूल समस्या थी—अभिनय की असत्य वस्तुस्थिति से सत्य की उपलब्धि कैसे हो जाती है, उसका एक मनोगम्य समाधान भट्टनायक के भाव्यमान (साधारणीकृत) व्यापार से होता है पर उनके इस विवेचन को अभिनवगुप्त ने सैद्धान्तिक मान्यता न प्रदान की।

भट्टनायक के विवेचन को न स्वीकार करने में अभिनवगुप्त के कुछ तर्क हैं। पहली बात यह है कि भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की जो स्थापना की जाती है, शब्द के इन व्यापारों की सैद्धान्तिक प्रामाणिकता नहीं है। यह भट्टनायक की कल्पना की उपज है। रस की तीनों स्थितियां भट्टनायक को नहीं स्वीकार हैं, अर्थात् न वह उत्पन्न होता है, न प्रतीत होता है, न अभिव्यक्त होता है। उत्पन्न तथा अभिव्यक्त न होने पर वह या तो नित्य माना जाएगा अथवा असत्। और अगर वह प्रतीत नहीं होता तो उसका कोई व्यवहार पक्ष ही नहीं होगा। यदि प्रतीति का अर्थ भोजकत्व व्यापार अर्थात् भोगीकरण स्वीकार किया जाय तो रस के जितने भेद हैं, उनके सात्विक अनुभावों के, रज:तम-गुणों के अनुसार जितने विभेद पैदा होंगे उतनी ही बहुप्रकारता भोगीकरण व्यापार की होगी अर्थात् बहुत-सी आस्वादन प्रतीतियां कल्पित करनी होंगी, और तब भट्टनायक ने जो अभिधा, भावना और भोजकत्व तीन व्यापारों में रसास्वाद का निर्णय किया है, यह सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है।

अब अभिनव गुप्त का निर्णय सुनिए, जो रससिद्धान्त की व्याख्या में संस्कृत काव्य-शास्त्र-परम्परा को प्राय:अन्तिम रूप से मान्य है। अभिनव गुप्त ने भरत के रस-सूत्र में 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति माना है। और 'संयोग' के अर्थ में प्रतिमान, साधारणीकरण, साक्षात्कार जैसी कई संज्ञाओं का प्रयोग अपनी व्याख्या में किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार रस का स्वरूप या

उसका जीवन रस्यमानता है, वह न्यायदर्शन का प्रमेय पदार्थ नहीं है—"**रस्य-तैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः।**' रस्यमानता का अर्थ चर्वणा भी है, अतः रस का पहले से कोई विद्यमान स्वरूप नहीं होता। चर्वणा के काल में ही इसकी स्थिति होती है, न पूर्व, न पश्चात्। यह चर्वणा मन का संवेदन अथवा विशिष्ट संवित्ति (ज्ञान) है। आचार्य ने इसी को सिद्धान्त में अभिव्यक्ति कहा है। अभिव्यक्ति संज्ञा के साथ अर्थ-बोध की अनेक विशिष्टताओं की अवतारणा होती है। चर्वणा का यह अर्थ-बोध देश-काल आदि से अनियन्त्रित होता है, अर्थात् जब तक देशकाल आदि का बोध बना रहेगा, यह चर्वणा हो नहीं सकती। अतएव इस चर्वणा के पूर्व साधारणीकरण की स्थिति आती है। साधारणीकरण व्यापार के सम्बन्ध में भट्टनायक और अभिनव गुप्त प्रायः समान हैं। चर्वणा (संवित्ति) को और भी संज्ञाओं से पुकारा जाता है, ये संज्ञाएं अभिनव गुप्त के सामने विद्वद्गोष्ठियों में प्रयुक्त होती रही होंगी तथा कुछ को पर्यायरूप में उन्होंने स्वयं प्रयुक्त किया है, चर्वणा-रूप संवित्ति के अन्य नाम ये हैं—**चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति**। अभिनव गुप्त कहते हैं कि रस की संवित्ति को इन नामों से भी अभिधान किया जाता है। अर्थात् इनमें से कुछ नाम अवश्य ही पूर्वप्रयुक्त हैं। इतनी संज्ञाओं के प्रयोग से रसमीमांसा की व्यापकता प्रकट होती है।

इस प्रकार लोक-व्यवहार में उद्यान, कटाक्ष, वीक्षण आदि कार्य, कारण, सहकारी—अनुमापक हेतुओं से अन्य जनों की रति आदि स्थायी भावात्मक चित्तवृत्ति के अनुमान-अभ्यास की जो तीव्रता होती है, वह ही नाटकीय रंगमंच के दर्शक सामाजिक में कार्य-कारण-सम्वन्ध एवं लौकिक स्थिति को अतिक्रान्त कर पुरातन वासनात्मक संस्कार के कारण नये अलौकिक वातावरण का सृजन करती है, तब लोक में प्रसिद्ध कारणत्व आदि विभाव, अनुभाव के समुपरंजकत्व रूप में उपस्थित हो जाते हैं, राम-सीता आदि पात्र निर्विशेष हो जाते हैं, अर्थात् उनके कार्य-व्यापार देश-काल से नियन्त्रित नहीं होते। वे प्रत्येक सामाजिक के हो जाते हैं। उन सभी भावों और कार्य-व्यापारों का साधारणीकरण हो जाता है। सामाजिक की बुद्धि में यह सारा संयोग एकत्र होकर वासना का उद्योतन करता हुआ रति आदि (स्थायीभाव रूप) अर्थ को अलौकिक संवेदन—चर्वणा का विषय बना देता है, यह ही रस है, पर यह भोग नहीं है, संवेदन है, न स्थायीभाव है, न स्थायीभाव का अनुकरण है, स्थायीभाव से विलक्षण यह रस है। चर्वणा के काल में ही इसकी स्थिति

होती है, यह पहले से सिद्ध रूप में विद्यमान नहीं रहता, न बाद में ही रहता है।

अभिनव गुप्त ने रस की इस प्रतीति—चर्वणा में सात प्रकार के विघ्नों का उल्लेख किया है, जिनके रहते रस का चमत्कार सम्भव नहीं होता—१-संवेद्य (ज्ञान के विषय का व्यापार) का असम्भावित होना, लोक-मन जिसमें विश्वास न कर सके। २-स्वगत या परगत रूप से देशकाल विशेष का सम्बन्ध बना रहना। ३-सामाजिक का अपने सुख आदि में निमग्न होना। ४-रसप्रतीति के उचित उपायों का अभाव। ५-साक्षात्कारात्मक स्फुट प्रतीति का अभाव। ६-रस-विषय की अप्रधानता से उपस्थिति। ७-विभाव-अनुभाव आदि की द्विविधात्मक स्थिति का योग।[1]

रस की यह प्रतीति लोकोत्तर है, इसलिए कि लोक में इसका कोई समान प्रतिमान नहीं है। पर इस कारण इसको हम मिथ्या नहीं कह सकते हैं और यह अनिर्वचनीय भी नहीं है। सम्यक्, मिथ्या, संशय, सम्भावना आदि ज्ञान से जो विज्ञेयत्व हो सकता है, उससे रहित यह रसास्वाद का चमत्कार है।

रस की इस समस्त व्याख्या का मूल धर्म केवल नाटक और रंगमंच से सम्बद्ध है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भरत की व्याख्या तो इस पक्ष में बहुत स्पष्ट है। अभिनव गुप्त ने भी रस की स्थिति केवल नाट्यपक्ष में ही स्वीकार की है और नाटक को ही उत्तम काव्य-प्रबन्ध कहा है। वे कहते हैं कि कथा-प्रबन्ध में मन के भीतर ही पाठक को विभावादि का प्रत्यक्षीकरण करना पड़ता है और साधारणीभाव हो जाता है, इसी प्रकार काव्य में भी हृदय के तन्मयी भाव से चित्तवृत्ति की निमग्नता सम्भव होती है। किन्तु प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक प्रतीति और साधारणीभाव जिस प्रकार नाट्य के रंगमंच पर होता है वह सब न कथा में है, न काव्य में है। अतएव नाट्य-रस की स्थिति कथा या काव्य में नहीं होती।[2] रसास्वाद की व्याख्या के अवसर पर शंकुक ने कहा है— अभिनय की अवगमन शक्ति (बोध करानेवाली प्रक्रिया) शब्द की वाचक-शक्ति से भिन्न होती है (अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या)। नाटक में प्रत्यक्ष ही आंखें माध्यम बनती हैं। रंगमंच पर घटित घटनाओं को मन आंख से बिना प्रयास ही ग्रहण कर लेता है और तब उसका प्रवेश उस क्षेत्र में तत्काल हो जाता है जहां काव्य या कथा पढ़ने अथवा सुनने के बाद मन अभिव्यक्ति के लिए बुद्धि या और किसी आधार से

१. रससम्बन्धी इन सिद्धान्तों और व्याख्याओं के लिए देखिए, भरतनाट्य-शास्त्र के षष्ठ अध्याय की रस-सूत्र अभिनवभारती टीका।
२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, कारिका १०७ की अभिनव भारती।

उन्मुख होता है। अभिनवगुप्त ने इस अभिनयन व्यापार को न केवल शब्द-व्यापार से नूतन, अपितु अनुमान से भी भिन्न प्रत्यक्ष जैसा ही व्यापार स्वीकार किया है ((अभिनयनं हि शब्दलिंगव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापार-कल्पमिति निश्चेष्यामः।) यह अभिनवगुप्त का पक्ष है। आगे इसकी मीमांसा अन्य दृष्टियों से भी की जायगी।

भरत ने रसों के लक्षण के अवसर पर उनके विभाव-अनुभावों का जो वर्णन किया है वह सब अभिनेताओं के कार्य-व्यापार का निर्देश और रंगमंच का प्रस्तुतीकरण हैं, उस लक्षण की संगति कथा या काव्य में नहीं की जा सकती। वे स्पष्ट रूप से इन लक्षणरूप—अभिनयों का निर्देश करते हैं, जैसे शृंगार रस में—तस्य नयनचातुरी भ्रूक्षप–कटाक्ष–संचार–ललित–मधुरांग हारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेद-ग्लानि-शंका- असूया -श्रम-चिन्ता-औत्सुक्य निद्रा-स्वप्न-विबोध-व्याधि-उन्माद-अपस्मार-जाड्य-मरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः। इसी प्रकार हास्यरस में अभिनय—विभावों को गिनाया गया है— स च विकृतवेषालंकार धाष्टर्य-लौल्य-कुहक—असत्प्रलाप व्यंगदर्श दोषोदारणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। अन्य रसों में भी विभाव-अनुभाव आदि के अभिनयों का स्पष्ट निर्देश भरत करते हैं। अतः भरत के लक्षण के अनुसार उनका नाट्यरस कथा या काव्य में अवतरित नहीं हो सकता।[1] रस के व्याख्याताओं में भी केवल भट्टनायक ने काव्य में रसास्वाद की चर्चा की है। शेष व्याख्याता नाट्यरस की ही सिद्धि करते हैं, काव्यरस की नहीं।

एक विलक्षण बात यह है कि रस-सिद्धि का यह सैद्धान्तिक विवेचन विद्वज्जगत् में उस समय बहुत जोर पकड़ रहा था जब प्रयोगात्मक रूप में कवियों की कृति में यह रस-सिद्धि ओझल होती जा रही थी। अभिनवभारती के उल्लेखों के अनुसार ही, जैसा कि उन्होंने उदाहृत किया है, लोक-नाट्य के अधिक प्रसार का अनुमान होता है और रसास्वाद का उक्त दर्शन शास्त्रीय नाट्य में कम प्रकट होता था। यहां तो एक अंगी रस और अन्य एक-दो अंगभूत रसों के निर्वाह की बात सोची जाती थी। पर लोक-नाट्य नाना रसों से ओत-प्रोत होता था। ऐसे लोक-नाट्य वे रागकाव्य थे, जो एक साथ ही गाये और अभिनय किये जाते थे। यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि रामकाव्य की यह रस-प्रवणता संगीत पर अधिक आधारित थी।

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय।

शास्त्रीय विधि में नहीं।[1] वैसे भी संस्कृत नाट्य-साहित्य की कोई मंजी हुई प्रौढ़ रचना अभिनवगुप्त के बाद इतिहास में नहीं आती। काव्य में भी कवियों ने रस का नाम तो खूब लिया पर वे रस का अवतरण न कर सके, क्यों? इसलिए कि उन्होंने आचार्यों के रस-दर्शन में ज्ञापित बोध-प्रक्रिया (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव) का अनुसरण ज्यामिति की रेखाओं की भांति किया, पर उससे रस्यमानता का जीवन नहीं आ सकता था। महाकवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधीय चरित' काव्य को 'शृंगारामृतशीतगुः' शृंगार रस का अमृत बरसाने वाला चन्द्रमा कहा है, परन्तु उनके काव्य की ख्याति और उसे पढ़ने की जिज्ञासा का कारण उसकी ऊंची उड़ान की उक्तियां हैं और तेरहवें सर्ग का वह श्लेष-वर्णन है, जिसमें एक ही छन्द पांच नलों के अर्थ-बोध का जटिल शब्द-प्रयोग प्रस्तुत करता है। इधर रस-दर्शन का गहन सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है और उधर कवियों के शब्द-प्रयोग से रस-बोध बिछुड़ता गया है। संस्कृत साहित्य का इतिहास स्वयं इसका साक्षी है। इसके समाधान के लिए डा० देवराज उपाध्याय का यह सिद्धान्त-वचन स्मरण हो आता है—"अभी तक उपान्यास का कोई काव्यशास्त्र नहीं लिखा गया। यह एक तरह से अच्छा ही है। यही उपन्यास की जीवन्त प्राणवत्ता का ज्वलन्त प्रमाण भी है, क्योंकि किसी भी कलात्मक पद्धति के इतिहास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मानवता की कोई रहस्यमयी आन्तरिक शक्ति इसे उत्पन्न करती है तथा इसे इस तरह विकसित करती रहती है कि किसी को पता नहीं चलता कि कहां से यह कला अपना जीवन प्राप्त कर रही है। जब आलोचना की किरणें इस रहस्य को उद्भासित कर देती हैं और लोगों को कला के छल-छद्मों का ज्ञान हो जाता है, लोगों को पता चल जाता है कि कला किन-किन उपायों का अवलम्ब लेकर किन-किन साधनों के द्वारा कहां-कहां से सामग्री प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्रकट करती है, बस उसी समय वह समाप्त हो जाती है, उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। उसके प्राणों के स्पन्दन का

---

१. देखिए, नाट्यशास्त्र—अध्याय ४ कारिका २६१, २६७, २६८, २६९ की अभिनवभारती—

अथोच्यते, राघवविजयादि रागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव। अभिनयप्रयोगात्।... एष एवं तु प्रकारः कक्षाविधिना निबध्यमानो राघवविजय-मारीचवधादिकं रागकाव्यभेदमुद्भावयतीति।

यदोक्तं कोहलेन—

> उपायान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विचेष्टितम्।
> नानारसमुनिर्वाह्यं कथं काव्यमिति स्मृतम्॥

कक्षाविधिना निबध्यमान का संकेत यह है कि यह लोक की विधा थी राग एवं इन के शास्त्रीय कक्षा-संयोजन ने इसे नाट्य बना दिया गया

ह्रास होने लगता है। प्रतिभा के सहज स्वच्छन्द विलास का स्थान क्रमशः अनुकरण की नोंच-खसोट लेने लगती है।[1]

अर्थात् किसी विधा के शास्त्र का निर्माण, उस विधा के गति-हीन जीवन की उत्तर-प्रवृत्ति का सूचक है। सम्भवतः अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त के विवेचन में यही उत्तरकालीन प्रवृत्ति कार्य कर रही थी और उनके परवर्ती आचार्यों ने जिन्होंने रस की व्याख्या प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्यों में भी की है, मानो जबर्दस्ती भरत के संज्ञाशून्य रस को नाट्य के रंगमंच से उठा ले गये हैं। यह अपहरण रस की संज्ञा पर मोहित होकर किया गया, पर उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि वह अब संज्ञाशून्य था, उस संज्ञा-शून्य रस से न उनका काव्यशास्त्र उज्जीवित हुआ, न कवियों की काव्य-रचनाएं।

नाट्यरस के साथ कथारस और सूक्तिरस की भी चर्चा आती है। कवियों ने अपने एवं दूसरों के कथा-रस एवं सूक्तिरस की अपनी कृतियों में प्रशंसा की है।[2] नाट्यरस के साथ इनका क्या भेद हो सकता है? क्या रस अपने एक ही अर्थ से नाट्य, कथा तथा सूक्ति से संपृक्त है, भरत ने कहा है- **'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'** अर्थात् विना रस के कोई अर्थ उज्जीवित नहीं होता, गतिमान् नहीं होता, भरत का यह कथन क्या केवल नाट्य के लिए है अथवा कथा और काव्य के लिए भी। हमारे विचार से रस का अपना दो पक्ष है-एक तो उसका स्वयं का पक्ष है और दूसरा है उसके अवतरित होने का माध्यम। उसका स्वयं का पक्ष तो आनन्द-बोध है और दूसरा कला-बोध। पहला पक्ष कवि, अभिनेता, पाठक, दर्शक सब का हो सकता है, पर दूसरा केवल उसका है जो रस के अवतरित करने के माध्यम का सृजक है। इसी दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय के कथन का अंश ऊपर उद्धृत किया गया है-'किसी भी कलात्मक पद्धति के इतिहास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मानवता की कोई रहस्यमयी आन्तरिक शक्ति इसे उत्पन्न करती है तथा इसे इस तरह विकसित करती रहती है कि किसी को पता नहीं चलता कि कहां से यह कला अपना जीवन प्राप्त करती है।' रस-सिद्ध की प्राण-प्रतिष्ठा कहां से है? इसके उत्तर में भी यह कथन उपस्थित

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : और मेरी मान्यताएं, पृ० १

२ कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य
दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
कथासु ये लब्धरसाः कवीनां
ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु। —बिल्हण
तद्भातः! शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥ —शंकर वर्मा

होता है, और यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि कला का समग्र अनुसन्धान तो हो नहीं सकता तथा काव्य की सिद्धि को लेकर उस का व्युत्पत्ति-अनुसन्धान भी समग्र नहीं है। यदि कला की समस्त विशिष्टताएं खोज ली जायं और उसका कुछ रहस्य शेष न रहने पाये तो बहुत सम्भव है कि कला संज्ञा-शून्य हो जायगी, चमत्कार-शून्य हो जायगी, उसका जीवन बीत जायगा। साहित्य-चिन्तन में यही स्थिति रस की है। रस-संज्ञा बहुत ही रहस्यमय है। इसके चमत्कारजनक कई नाम प्रयुक्त हुए हैं-आस्वादन, भोग, लय, समापन, विश्रान्ति, रसन, निर्वेश। सम्भवतः ये संज्ञाएं एक के बाद एक आलोचकों के सम्मुख अपने रहस्य को अनावृत करती रही हैं और संज्ञा-शून्य होती गई हैं, तथा यही स्थिति बहुत कुछ रस-संज्ञा की हुई है। रस के परिणामों पर विचार न कर उसके स्वरूप-निर्धारण की जो प्रबल जिज्ञासा होती गई, उसमें रस का जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। अब तो हमें 'रस' के स्थान पर 'आनन्द' तथा ऐसी अन्य संज्ञाओं का प्रयोग साहित्य-चिन्तन में वांछित रहस्य के प्रति अधिक उन्मुख करता है।

अभिनव गुप्त ने कहा था कि मैंने पूर्व के आचार्यों के मतों का खण्डन नहीं किया है वरंच उनके मतों का ही संशोधन किया है, पूर्व के स्थापित सिद्धान्तों की भली-भांति संगति लगा देने पर मूल सिद्धान्त की स्थापना का-सा फल मिलता है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापित-योजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

उसी प्रकार यहां भी ऐसे ही कुछ संशोधन और संकुचित पक्ष के विस्तार की चर्चा की जा रही है, जो अभिनवगुप्त की रससिद्धि के व्युत्पत्ति-पक्ष का नया विकल्प और अभाव का समाधान भी है। ये विकल्प तथा समाधान मूलतः डा० देवराज उपाध्याय के आलोचना-ग्रन्थों में प्रतिष्ठापित सिद्धान्त हैं, जिनकी संगति अभिनवगुप्त के सिद्धान्त से की गयी है, यह संगति उसको नये रूप में सोचने की प्रेरणा देती है, समुल्लसित करती है।

संक्षेपतः :—रस-सिद्धि-विषयक व्युत्पत्ति की समग्रता में खटकने वाली बातें ये हैं—

१-अभिनवगुप्त कहते हैं कि रसात्मक प्रतीति में एकघन-विश्रान्ति का अनुभव करते हुए लोक की बुद्धि विभागपूर्वक भावादि अर्थ को नहीं ग्रहण करती केवल रसमय बोध में डूब जाती है। देशकाल के विशेषणों से अप्रभावित रहकर दर्शक स्थायि-विलक्षण रस की भूमि में आस्वादात्मक विधि से अपने को समर्पित कर देता है। रंगमंच पर रस की यह भूमिका सारी परिषद् के लिए एक समान लोकोत्तर आनन्दप्रद तथा अन्त तक सरसाने वाली होती है। किन्तु आचार्य यह भी कहते है कि चर्वणा से अतिरिक्त काल में रस की स्थिति नहीं होती (न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी)। अतः प्रश्न सामने आता है कि उस रसास्वाद की धारा में यह चर्वणातिरिक्त काल क्या होता होगा?

तथा इसी के साथ एक दूसरी बात भी विचारणीय है, जब आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि रस-प्रतीति में विभाव आदि संज्ञाएं पुराने संस्कारों के उपजीवन का विद्योतन करती हैं (प्राच्य कारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः) तब देशकाल के अपरामर्श से रस-प्रतीति की सिद्धि कैसे हुई, क्योंकि दर्शक तो पुराने संस्कारों से अभिभूत हैं।

ये प्रश्न इसलिए भी सत्ता में आते हैं कि नाट्यशास्त्र का प्रथम नाट्य-प्रयोग देवासुर-संग्राम नाम का था, उसमें जब असुरों की पराजय का अध्याय के अनुसार प्रथम अभिनय किया जाने लगा तो असुरों ने नाराजगी प्रकट की और विरोध प्रदर्शित करते हुए यह कहकर चले गये कि हमें ऐसा नाट्य-प्रयोग अभीष्ट नहीं है।[1] अभिनवगुप्त ने स्वतः भी राम-रावणादि विषयक प्रतीति-योग्यता की शर्त रखी है (रामरावणादिविषयाध्यवसाये)। इस तथ्य को असत् से निवृत्ति तथा सत् की ओर प्रवृति-सिद्धान्त में गतार्थ नहीं किया जा सकता। क्योंकि तब असत्, सत् की अपने-अपने दृष्टिकोण से अनेक परिभाषाएं होने लगेंगी।

अतः रस की एकधन-विश्रान्ति का रूप स्पष्ट नहीं है।

२-अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण व्यापार को विस्तृत व्यापार कहा है (तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् व्याप्तिगृह इव धूमाग्नयोर्भयकम्पयोरिव)। अर्थात् समस्त सामाजिकों को एक समान रस प्रतीति के लिए, विघ्नरूप जो विशेषण परामर्श आते जायेंगे, उनका निवारण साधारणीकरण व्यापार करता जायगा। देश, काल, प्रमाता आदि के नियम हेतुओं

१. नाट्यशास्त्र १।५४-६५

के बन्धन का अपसारण भी साधारणीकरण से हुआ। उसके बाद रंगमंच पर प्रस्तुत विभाव, अनुभाव में सामाजिक की अपनी ही वासना का बोध भी साधारण्य व्यापार करता है, और इसकी स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक रस्यमानतारूप से रसास्वाद की चर्वणा निज के दुःख-सुख से परे लोकोत्तर आनन्द में सामाजिक को निमग्न नहीं कर देती है।

अभिनवगुप्त के इस वितत साधारण्यभाव की व्याख्या स्पष्ट नहीं है। इतना तो निश्चित है कि इस साधारण्य की मूल शक्ति मन है, पर तीन-तीन मंजिलों को पार करता हुआ मन का यह व्यापार किस प्रयोजन से अथवा किस संजीवनी से संचालित होता है, इसका विवेचन नहीं किया गया, यह पक्ष अछूता रह गया है। वह प्रयोजन या संजीवनी रस नहीं हो सकता, क्योंकि चर्वणा के अतिरिक्त काल में न उसकी स्थिति हो सकती है, न ऐसे लाभ से प्रेरित किसी व्यापार की सम्भावना है (पारमार्थिकं किंचिदद्य मे कृत्यं भविष्यति इत्येवम्भूताभिसन्धिसंस्काराभावात्।

अतः साधारणीकरण को वितत व्यापार न स्वीकार कर उसकी स्थिति तथा उसके नाम से आवृत अन्य सत्ता का वास्तविक आकलन होना चाहिए।

३–शंकुक ने स्थायीभाव के अनुकरण को रस माना है। भरत ने भी कहा है कि यह नाट्य लोकवृत्तानुकरण एवं सप्तद्वीपानुकरण है। पर यह अनुकरण जिस किसी भी मूल कथा के पात्रों का होगा, वास्तविक न होकर कृत्रिम होगा, अतः कृत्रिम साधन से वास्तविक भाव की प्रतीति दर्शक को सम्भव न होगी, शंकुक के सिद्धान्त का इसी आधार पर प्रत्याख्यान किया जाता है। पर इसी सामग्री को अभिनवगुप्त दूसरे रूप में ग्रहण करते हैं, अभिनय को देखकर दर्शक के पुराने संस्कार जाग उठते हैं, नये अलौकिक वातावरण का सृजन हो जाता है, राम-सीता आदि पात्र देश-काल से अनियन्त्रित होकर निर्विशेष अर्थात् प्रत्येक सामाजिक के हो जाते हैं, या सामाजिक ही रामसीता हो जाते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि जिस कृत्रिम साधन (रामसीता के नाट्य अभिनय) से शंकुक का रसास्वादन गलत सिद्ध हुआ, उसी कृत्रिम साधन से अभिनवगुप्त ने रस-चर्वणा न सही, अपने साधारण्य भाव-अलौकिकता की सिद्धि तो की। प्रत्यक्ष रामसीता को देखकर साधारण्य भाव हो, यह तो ठीक है, पर जिस सिद्धान्त के अनुसार शंकुक का मत निरस्त किया गया, अभिनव

गुप्त का साधारण्यभाव भी इस कृत्रिम साधन से नहीं होना चाहिए। साधारण्यभाव का मूल आधार अगर पुराने संस्कारों का उदय है तो सामाजिक ने राम-सीता के रस-भाव की चर्वणा नहीं की है, सचमुच वहां सब कृत्रिम और स्वप्निल ही रहता है, अभिनय के साथ सामाजिक को जिस अलौकिक रस्यमानता की प्रतीति होती है, वह उसके अपने भाव की ही चर्वणा है। पर ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, राम-सीता, युधिष्ठर-द्रौपदी, वसन्तसेना-चारुदत्त आदि के विभिन्न अभिनयों में सामाजिक की भाव-चर्वणा भिन्न गुण, भिन्न व्यापार में होगी और सामाजिक एक ही होगा। अतः पुराने संस्कारों के उदय (प्राच्यकारणादिरूप संस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः) की ठीक समीक्षा होनी चाहिए।

४—अन्तिम बात यह है कि रस का सबसे बड़ा संजीवन कथा है, वह चाहे अभिव्यज्यमान हो, अथवा अभिधात्मक हो। विभावादि का साधारणीकरण जो होगा, राम-सीता की रति की जो चर्वणा होगी, सामाजिक का मन साधारण्य भाव की प्रक्रिया में जो श्रम करेगा—इन सब की स्थिति कथा के जीवन के साथ ही है, कथा से विच्छिन्न हो जाने पर ये किंकर्तव्यविमूढ हैं।

इस प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन का एक उल्लेख मनन-योग्य है, उससे रस की स्थिति में कथा की संजीवनी की अनिवार्यता का बोध हो जाता है। अमरुक कवि की शृंगार भाव की वेजोड़ उक्तियां प्रसिद्ध हैं, कविगोष्ठियों में वे सूक्ति का चमत्कार कही जाती थीं, पर जब काव्य क्षेत्र में रस-चिन्तन ने प्रवेश किया तब उन सूक्तियों को शृंगार-रस-वर्षी (शृंगार-रस-स्यन्दिनः) कहा गया, पर मुक्तक सूक्ति में रस विद्यमानता कैसे सम्भव हो सकती थी, यह रस-बोध का सहज सत्य था जो आनन्दवर्धन के मुख से बिना किसी दूसरे की शंका, आक्षेप के अपने-आप फूट पड़ा है, अर्थात् सूक्तियों को जब उन्होंने रसस्यन्दी कहा तब वे मुक्तक सूक्तियां उनको प्रबन्धायमान दिखने लगीं—मुक्तक की रचना में भी प्रबन्ध की भांति रस-बन्ध के प्रति अभिनिवेशी कवि देखे जाते हैं, जैसे अमरुक कवि के शृंगार रस-वर्षी मुक्तक प्रसिद्ध हैं, जो एक-एक मुक्तक एक-एक प्रबन्ध हैं[1]। रसवर्षी होने के लिए प्रबन्धायमान होना जरूरी है।

रस-चर्वणा के साथ इस कथा-तत्त्व की समुचित व्याख्या नहीं हो सकी है। नाट्य अथवा प्रबन्ध काव्य में कथा-सन्धियों, सन्ध्यंगों, अर्थ-प्रकृतियों

१. ध्वन्यालोक ३।७ की वृत्ति

कार्यावस्थाओं तथा अर्थोपक्षेपकों का विवरण आचार्यों ने दिया है, जो कथा-तत्त्व की मीमांसा है पर यह मीमांसा रससिद्धि से अलग ही हुई है। सच बात यह है कि भाव और उसका अभिनिवेश कथा के उतार-चढ़ाव के साथ प्रदीप्त होता है, कथा के सहारे ही रस अथवा आनन्द की अनुभूति में मन तिरता है, अतः कथा-तत्त्व की सूक्ष्म व्याख्या के बिना रस-मान्यता की व्युत्पत्ति पूर्ण नहीं होती।

क्रमशः इन प्रश्नों के यथासम्भव समाधान का विस्तार किया जाता है।

सबसे पहले यह बता देना आवश्यक है कि ये समाधान जहां से लिए जा रहे हैं, डा० देवराज उपाध्याय के समीक्षा-ग्रन्थों और उनके समीक्षा-निबन्धों में कुछ बातें ऐसी हैं, जो ऊपर की रस-व्युत्पत्ति की चर्चा के प्रसंगों से समानता रखती हैं। इसका कारण यह है कि उपाध्याय जी मनोवैज्ञानिक समीक्षक हैं, रस व्युत्पत्ति की मीमांसा का आधार भी मनोविज्ञान के दर्शन से अलग नहीं है। उनकी समीक्षायें कथा-साहित्य और कथा-तत्व पर हैं, मनोविज्ञान का पूर्ण विस्तार कथा-क्षेत्र में ही सम्भव है। अतः रसविषयक व्युत्पत्ति में उठने वाले प्रश्नों के समाधान के लिए सही क्षेत्र का चुनाव किया गया है, ऐसा मैं समझता हूं।

पहली बात तो यह है कि उन्होंने अपने समीक्ष्य मनोवैज्ञानिक कथा-प्रबन्धों में नाट्य की स्थिति अथवा नाटकीयता की शैली स्वीकार की है—"इन उपन्यासों में समय के प्रति जो दृष्टिकोण अख्तियार किया गया है, समय को जिस रूप में देखा गया है, वह ऐसा है कि उसमें एक समय में दो स्तरों-पर क्रिया हो सकती है। एक तो वर्तमान और नाटकीय, दूसरा अतीत और व्याख्यात्मक। वर्तमान स्तर कथाक्रिया को वहां पकड़ता है, जब वह समाप्तप्राय है......वर्तमान स्तर पर होने वाली क्रिया में नाटक की एकाग्रता, संक्षिप्तता तथा द्रुतगामिता होगी।......वर्तमानस्तरीय क्रिया में नाटकीयता एवं द्रुतगामिता होती हैं। कथा, कथा के रूप में नदी की धार की तरह ही नहीं, विद्युतगति की क्षिप्रता से आगे बढ़ती है।......हिन्दी में जैनेन्द्र इस तरह की वार्तालाप-योजना करने में अद्वितीय हैं। यही कारण है कि आजकल के उपन्यास अपने स्वरूप के विकास लिए अधिक से अधिक संवादों पर निर्भर करते हैं और ऊपर मैंने कहा ही है कि एक विशेष वर्ग के उपन्यासों में वर्तमान स्तरीयता या नाटकीयता होती है। कुछ उपन्यास तो ऐसे भी हैं जिनमें वर्णन और अन्य पुरुषात्मक कथा का वही स्थान है जो नाटकों में Stage Direction का है। दूसरे शब्दों में कहें कि उपन्यास, रहते तो उपन्यास ही हैं पर इनमें

नाटक बन जाने की अदम्य प्रेरणा है। यदि नाटक नहीं बन जाते तो इसका यही कारण है कि इन उपन्यासों में अतीतस्तरीय क्रियायें भी हैं जो उन्हें पूर्णरूप से नाटक नहीं होने देतीं।[1]

इस कथन में अन्तिम वाक्य बहुत महत्वपूर्ण है। अतीतस्तर की क्रिया न केवल नाटक के विरुद्ध है, रस–व्युत्पत्ति की भी विघातक है। अभिनवगुप्त के मत में देशकाल से अनियन्त्रित साधारणीकरण का भी यही अर्थ है।

दूसरे स्थल पर भी उन्होंने इसी बात को समास में कहा है—"मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता से अधिक नाटकीयता पर बल दिया जाता है। मतलब यह कि घटनाओं का संयोजन कुछ इस ढंग से होगा कि वे स्वयं स्फूर्त होंगी। अपनी कथा स्वयं कहेंगी, पद-पद पर उपन्यासकार की सहायता की अपेक्षा नहीं होगी।.............उपन्यासकार तथा पाठक के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से देखें तो इन दोनों में जो सम्बन्ध होगा वह वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और प्रेक्षक का होगा। श्रोता वक्ता के मुख की ओर देखता है, पर नाटक में नाटककार तो होता नहीं, वहां केवल अभिनेता तथा प्रेक्षक रहते हैं। अतः प्रेक्षक को नाटककार की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह अभिनेता के अभिनय को ही देख पाता है, वही जो कुछ दिखला दे। उसी तरह मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पात्रों के सिवा दूसरी ओर देखने का अवसर नहीं है[2]।"

इस कथन में वह प्रक्रिया स्पष्ट हो गई है, जिस प्रक्रिया से कथारस को नाट्य-रस की स्थिति प्राप्त हो जाती है, अभिनवगुप्त ने जो रस को प्रत्यक्ष-व्यापार-कल्प-अभिनयन-व्यापार (अभिनयनं हि शब्दलिंग-व्यापार-विसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः) माना है, उसी की ठेठ व्याख्या उपाध्यायजी का यह वाक्य है—(पाठक को) उपन्यास में पात्रों के सिवा दूसरी ओर देखने का अवसर ही नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अभिनवगुप्त ने रस-प्रक्रिया को देशकाल से अनियन्त्रित बताया है, उपाध्यायजी के मत में सही मनोवैज्ञानिक उपन्यास की भी यही स्थिति होती है—"जैनेन्द्र के उपन्यासों में यदि पाठक कहानी का भरोसा करें तो उपन्यास का स्वरूप ही न खड़ा हो। कहानी वहां से आरम्भ

---

१. डा० रांगेय राघव। उपन्यास और मेरी मान्यताएं, पृ० ११०–१११
२. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २३

होती है, जहां वह समाप्त हो चुकी है। अतः मनोविज्ञान को यहां प्रारम्भ से ही एक सौन्दर्यात्मक सक्रियता लानी पड़ती है, Asthetic Function perform करना पड़ता है। अन्य उपन्यास न तो ऐसा कर ही सकते हैं और न उनको इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। उन्हें तो देश तथा काल थामे रहता है[1]।"

तीसरी साम्यता रस्यमानता की विश्रान्ति तथा उपाध्यायजी की साहित्य-विषयक आनन्दोपलब्धि के परिणामों की है। उन्होंने आनंद को सामाजिक 'कविता के पाठक' और स्रष्टा कवि दोनों का ही पक्ष स्वीकार किया है—"किसी कवि की कविता से कितना लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है, इस पर जरा विचार करें। वह आनन्द किस तरह का हैं? क्या हम किसी कविता के प्रति कृतज्ञता का अनुभव इसलिए करते हैं कि वह हमें ऐसी बातें दे रही है जिन्हें हम जानते नहीं थे? या जिन्हें पाकर हम दुनियां को दिखला कर कह सकें कि देखो, हमने नई चीज पाई है? नहीं कविता पढ़कर तो हमें आनन्द इसलिए होता है कि हम वह अनुभव करने लगते हैं कि कवि ने जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की है, वे तो हमारी अपनी ही हैं,वे हमारे हृदय के पिंजरे में पड़ी-पड़ी छटपटा रही थीं। उन्हें गगन में विहार कर उन्मुक्त गीत गाने के लिए द्वार खोल दिया गया है।[2]

पुराने संस्कारों का जागना या अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति-दोनों समान पक्ष हैं। दोनों के मूल में आनन्द की स्थिति है।

अन्यत्र डा० उपाध्याय ने सर्जन (रचना) के मूल में आनन्द को ही प्रेरणात्मक उत्स स्वीकार किया है-"यदि हम किसी वस्तु को धीरे-धीरे विकसित होकर चरमोत्कर्ष पर पहुंचते देखते हैं, दो विपरीतताओं को एक व्यापकतर एकता में समन्वित होकर अपने विरोध को भूलते देखते हैं तो हमें सुख होता है। अतः इस तरह की व्यवस्था आनन्ददायक होती है। इसी मूल-तत्व के आधार पर सृजन प्रारम्भ होता है। आनन्द प्राप्त करना और आनन्द प्राप्त कराना सृजन की मूल प्रेरणा है। सृजन जानता है कि मनुष्य क्या चाहता है, कैसी बातों से आनन्दित होता है, और उन्हें ही देता है। उदाहरणार्थ बीज अंकुरित होता है, धीरे-धीरे विकसित होता है। चरमोत्कर्ष की अवस्था को प्राप्त कर वातावरण को अपने सौन्दर्य से मण्डित कर देता है,

1. 'जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,' पृ० ७३-७४
2. " " पृ० २०

हमें उसे देखकर सुखानुभूति होती है। यह मनुष्य की सहज और जन्मजात प्रवृत्ति है कि वह किसी तान के स्वरोत्कर्ष से आनन्द प्राप्त करता है। अतः कोई भी कलाकार मनुष्य की इस कमजोरी से अवश्य ही लाभ उठायेगा। पर चूंकि स्वरोत्कर्ष का यह विचार केवल प्रत्ययमात्र है, विचारमात्र है, अमूर्त है, इसलिए मानव हृदयस्पर्शी होने के लिए इसे मूर्त बनाना पड़ेगा।[1]

हम यह कह सकते हैं, और जो एक सैद्धान्तिक सत्य है कि उपाध्यायजी की मनोवैज्ञानिक समीक्षा अभिनव के गूढ़, अलौकिक रसदर्शन को सरल करने में अधिक क्षम होगी। क्योंकि मनोदर्शन रस-दर्शन की मूल कुंजी है। रस-सूत्र की व्याख्या में अनुकरणवाद, विज्ञानवाद, द्विधाभिधान, स्फोटतत्व, सत्कार्यवाद, एकत्वदर्शन आदि की जो मान्यतायें स्थापित की गई हैं, वे स्वयं रस के चमत्कार से अभिभूत हैं। मनोविज्ञान की समीक्षा, जो उपाध्यायजी की प्रतिभा से संवारी हुई है, रस-दर्शन की कुंजी बन जाती है। हम ध्यान से इसकी कसौटी करें तो मालूम होगा कि उपाध्यायजी की सूक्ष्म मान्यताओं ने रस-तत्व को नंगा कर उसका एक्सरे कर दिया है। साहित्य के साथ मन के व्यापार, क्रिया, अभिभावन ही तो रस और आनन्द बनते हैं। अतः रस-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर के लिए डा. उपाध्याय उसके देश, काल, स्थान का सही प्रतिनिधित्व करते हैं।

अब समाधान का आरम्भ होता है। पहले के तीन प्रश्नों के ये विभिन्न पक्ष हैं—रसचर्वणातिरिक्त काल क्या होता होगा? राम-रावणादि-विषयक प्रतीति योग्यता की शर्त रखने पर रस की एकघन-विश्रान्ति का रूप क्या है? क्या साधारणीकरण का तीन-तीन बोधों के लिए वितत व्यापार सम्भव है? साधारण्यभाव के मूल आधार नटादि के कृत्रिम भाव-विभाव एवं उनसे पुराने संस्कारों के जागृत होने की प्रक्रिया क्या है? क्या नाट्य में अनुकरण की सत्ता को निरस्त किया जा सकता है?

रहस्य दर्शन की प्रवृत्ति

रस का चर्वणा-काल लोकोत्तर आनन्द का क्षण है—"अलौकिक निर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः।" लेकिन रस्यमानता मात्र ही इस रस का जीवन है, न यह उसके पहले है और न बाद में है। किसी नाटक, काव्य या कथा का सम्पूर्ण वस्तुतत्व तो ऐसा हो नहीं सकता कि वह समग्र रूप से रस्यमानता या लोकोत्तर आनन्द का विधायी बन जाये, क्षण-कालावधियां ही ऐसी होती होंगी। तब उस क्षण के बाद या पूर्व रस के भोक्ता की या स्वयं

---

1. ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन प्रक्रिया (डा० दे० रा० उपाध्याय का लेख) सम्मेलन पत्रिका, भाग ५४. संख्या १, पृष्ठ १७।

रस की क्या स्थिति होगी? रस चर्वणातिरिक्त काल का यह रहस्य रस की भूमिका को समझने में सहायता देता है। इतना तो निश्चित है कि चर्वणातिरिक्त काल में भी मन अर्थ की चर्वणागोचरता की जिज्ञासा में तल्लीन रहता होगा अथवा मन कहीं भी डूबा हो उसकी वृत्तियां उसके अनुसन्धान में सावधान रहती होंगी। इसे हम वृत्तियों द्वारा मन के रहस्य की खोज अथवा मन द्वारा वृत्तियों के रहस्यदर्शन की अनुसंधित्सा कह सकते हैं। डा० उपाध्याय का एक निबन्ध है—"आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में रहस्य-दर्शन-प्रवृत्ति।" मेरी दृष्टि से यह विधा प्राचीन है, नये कलेवर में यह अभिधात्मक हो गयी है। समूचा साहित्य-शास्त्र इतिहास की भूमियों में नये-नये कलेवर में अवतरित होता रहा है। उक्त निबन्ध में डा० उपाध्याय ने रहस्य-दर्शन-प्रवृत्ति को लेकर विशेष रूप से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'चारु चन्द्र लेख' पर विचार किया है और उसके कई पहलुओं की व्याख्या की है। उपाध्यायजी की इस व्याख्या में अभिनव गुप्त के उस विवेचन का स्पष्टीकरण हो जाता है, जो उन्होंने 'न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।' कहकर चर्वणातिरिक्त-काल की समस्या अनजान में अपने पिछले चिन्तकों के लिए छोड़ दी थी। डा० उपाध्यायजी का मूल सिद्धान्त तो केवल चार शब्दों का है—"रहस्यदर्शन सृजन की पहली शर्त है।" भरत के रससूत्र 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' और इस कथन में फोटो तथा निगेटिव का सम्बन्ध है। आगे इस सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा रहा है। उपाध्यायजी के सिद्धान्त का समग्र पक्ष इस प्रकार है—"वायरिज्म (Voyeurism) मनोवैज्ञानिकों का एक पारिभाषिक शब्द है। कुछ लोग होते हैं जिनकी काम-लिप्सा स्वाभाविक रूप में सन्तुष्ट न होकर दूसरों के काम-कौतुक को लुक-छिपकर देखने में ही अपनी तृप्ति का साधन ढूंढती है। छोटे-छोटे बालकों में यह प्रवृत्ति बहुत होती है और लुकछिपकर दूसरों के रहस्यों को देखने में वे बड़ा रस लेते हैं। यह प्रवृत्ति किसी में क्यों जाग्रत हो जाती है, इसके लिए मनोवैज्ञानिकों ने अनेक कारण दिये हैं। उनसे मेरा मतलब नहीं। मेरा मतलब उतने से ही है कि प्रायः बालकों तथा कुछ वयस्कों में भी इस तरह की प्रवृत्ति होती है। इसीको Infantile, Gazing Impulse भी कहा गया है। लोग दूसरों के रहस्यों को देखते हैं और दूसरों को देखने के लिए आमन्त्रित करते हैं। उपन्यासकार भी, उपन्यास ही क्यों प्रत्येक सृजनशील साहित्यकार मूलतः Voyeur होता है। वह कुछ रहस्यों को देखता है और दूसरों को भी उस रहस्यदर्शन में सहभागी होने के लिए आमन्त्रित करता है। यदि उसने कोई असाधारण और

रहस्यमयी बात नहीं देखी तो वह सृजन नहीं कर सकता। रहस्य-दर्शन सृजन की पहली शर्त है।[1]

असाधारण और रहस्यमयी बात देखना ही सृजन की उपपत्ति है। इसकी सिद्धि में अभिनवगुप्त भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं, वे लौकिक को अलौकिक और साधारण को असाधारण बनाते हैं–'नाटक का दर्शन लोक-व्यवहार के उद्यान, कटाक्ष, वीक्षण आदि व्यापारों को देखकर उनकी लौकिकी भूमि को अतिक्रान्त कर उन कार्य-कारणों को अपनी बुद्धि में विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भावों के नाम से से अलौकिक रूप में ग्रहण करता है।'[2] तथा इसके साथ ही रस को, जो लोक-मानस द्वारा संवेदन किया जा रहा है, रहस्यमय कहने से वे नहीं चूकते। रस की रहस्यमयता दो बातों में है–एक तो यह है कि उसका अस्तित्व उसकी चर्व्यमाणता (आस्वाद्यता) ही है, घट आदि के समान वह पहले से सिद्ध स्वरूप नहीं है। दूसरी बात यह है कि स्थायी भाव रस बनता है, यह औपचारिक कथन है, ऐसा होता नहीं। रस स्थायी से विलक्षण है। अर्थात् रति आदि स्थायी भाव होकर भी वह वही नहीं है, यह कहना चाहिए। भट्ट नायक की एक कारिका में रस के तीन पक्षों की चर्चा की है––

संवेदनाख्यया व्यंग्यः परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥

(१) संवेदन नामक व्यंग्य (२) पर-संवित्ति (ज्ञान, भाव) की साक्षात्कारिता और (३) आस्वादन-रूप आत्मा का अनुभव–इन तीन प्रक्रियाओं वाला काव्य अर्थ रस है। यहां पर 'संवेदन' पद के अर्थ में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण भिन्न हैं। भट्टनायक का कहना है कि संवेदन का अर्थ है भावकत्व-भोजकत्व द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति। अभिनवगुप्त के मत में 'संवेदन' पद व्यज्यमानरूप से व्यंग्य-अनुभूतिकाल में साक्षात्कृत रस का बोधक है–'तत्र व्यज्यमानतया व्यंग्यो लक्ष्यते।' पर यथार्थ यहां यही है कि मन की संवेदन-क्रिया द्वारा जो व्यंग्य होता है, वह व्यंग्य भावकत्व–भोजकत्व द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति भी हो सकता है, अनुभूतिकालिक रस का बोध भी हो सकता है अथवा अन्य रूप भी उसके हो सकते है। अन्य रूप कहने का अर्थ है रस के चर्वणातिरिक्त काल में (पूर्व और पश्चात् में) बोध होने वाली अर्थ-क्रियाएं। अतः मन की संवेदन-क्रिया का पर्याय हुआ–मन की रहस्य-दर्शन प्रक्रिया। 'संवेदनाख्यया व्यंग्यः' को 'रहस्याख्यया व्यंग्यः' कहने से अर्थ की निर्मलता में

---

१. डा० रांगेय राघव · उपन्यास : 'मेरी मान्यताएं', पृ० १३०
२. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, रस-सूत्र की व्याख्या।

कोई त्रुटि न होगी। मन की इस रहस्य-दर्शन क्रिया के बाद क्रमशः परसंविति की गोचरता तथा आस्वादन-रूप आत्मानुभव का अवतरण होता जाएगा। इस प्रकार रस की निष्पत्ति-सिद्धि में प्राक्तन आचार्यों ने जहां-जहां 'संवेदन' संज्ञा का प्रयोग किया है, वहां व्याख्या को मन की रहस्य-दर्शन प्रवृत्ति पक्ष से अधिक हृदयंगम कर सकते हैं। अलौकिक निर्विघ्न-संवेदनात्मकचर्वणा-गोचरतां नीतोऽर्थः का बोध अलौकिक रूप से निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणा के प्रत्यक्ष हुआ अर्थ के रूप में जब हम करते हैं तब चर्वणा का अर्थ प्रतीक ही बना रह जाता है, चर्वणा अर्थात् भावकत्व-भोजकत्व या आस्वादनात्मक अनुभव। मन का भोजकत्व या आस्वादन कहने की अपेक्षा मन की रहस्य-दर्शन-क्रिया अभिधात्मक संज्ञा है। मन की रहस्य-दर्शन-प्रवृत्ति का अर्थ मन का सम्मोहन भी कर सकते हैं।

मन का यह रहस्यदर्शन अपनी प्रगाढ़ता एवं सामान्यता से अथवा देश-काल की सीमा से युक्त होकर या मुक्त होकर कथारस तथा नाट्यरस के आस्वादन का पक्ष प्रस्तुत करता है। मन का एकान्तिक रहस्यदर्शन कथारस की सृष्टि करता है और नाट्य-मंच पर जहां देश-काल की सीमा से मुक्त होकर मन सीधे, अनायास अथवा खुले आम अपने रहस्यों को देखता है वहां अलौकिक एवं निर्विघ्न रूप से संवेदन को प्रत्यक्ष होने वाला अर्थ नाट्यरस होता है, डा० उपाध्यायजी ने रहस्य-दर्शन की व्याख्या में इस पक्ष की भी व्याख्या की है—"नाटक का प्रेक्षक या नाटककार, उपन्यासकार और उपन्यास का पाठक इन दोनों के वायरिज्म में अन्तर होता है। नाटक का प्रेक्षक पात्रों के रहस्यों को देखता तो है, पर सब लोगों के सामने। रंगमंच के नीचे हजारों की संख्या में बैठे हुए प्रेक्षक दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय रहस्यों को देखते हैं पर उपन्यास का पाठक उन रहस्यों को एकान्त में देखता है। इसलिए उसमें Voyeurism की मात्रा अधिक होती है। नाटककार और नाटक का प्रेक्षक दूसरों के रहस्यों को खुले-आम सरे बाजार देखता है। इसलिए यह सही है कि उसमें लुका-चोरी की प्रवृत्ति उतनी प्रबल नहीं है। आजकल उपन्यासों में नाटकीयता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और ऐसे उपन्यासों को आधुनिक आलोचना पीठ ठोककर बढ़ावा भी देती है, पर मेरे जानते यह उपन्यास-कला की कमी का ही सूचक है। उपन्यास का पाठक उपन्यासकार की अकुशलता के कारण जब अपनी आनन्दानुभूति में से कुछ अंश को दूसरों को देने के लिए बाध्य होता है तो उसे यह बात अच्छी नहीं लगती। उपन्यास में ऐसी परिस्थिति का जिसमें वह अपनी आनन्दानुभूति को दूसरे व्यक्तियों के साथ

बंटवारा करने के लिए वाध्य हो, बहुत कम अवसर रहता है। अतः वह बड़े शान्त-चित्त से उपन्यास को पढ़ता है और प्रभाव ग्रहण करता है। यही कारण है कि बहुत से विचारकों ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि देखने में यह बात भले ही सही लगे कि नाटक अपनी प्रत्यक्षता के कारण प्रभावशाली है पर वास्तव में उपन्यासों का प्रभाव पाठकों पर अधिक गहरा होता है।[1]

वायरिज्म अर्थात् रहस्य-दर्शन नाटक एवं उपन्यास दोनों की रचना के लिए आवश्यक शर्त है। रहस्यदर्शन की ही दूसरी संज्ञा संवेदन हुई। नाटक में यह संवेदन खुले आम सरे वाजार होता है, उसका प्रत्यक्ष निदर्शन पाठक के लिए नाट्य-प्रयोक्ता करता है, अतः बीच में नये माध्यम की उपस्थिति से उसके इस प्रत्यक्षीकरण में वाधाएं, प्रत्यवाय अधिक सम्भव हैं इसीलिये इसको अलौकिक निर्विघ्न संवेदन होना आवश्यक कहा गया। और कथा या उपन्यास में सामाजिक का मन यद्यपि इन्द्रिय-संनिकर्ष से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव नाट्य के रंगमंच की तरह नहीं करता, किन्तु वह कवि या कथाकार के मनोजगत् में विना किसी माध्यम के सीधे प्रवेश करता है, इस प्रकार कवि की सृष्टि का यह प्रत्यक्ष द्रष्टा होता है। स्वयं भी कवि बन जाता है और तब सामाजिक के मन की गति देशकालातीत हो जाती है, पाठक को कवि या कथाकार बना देना रचना की प्राणवत्ता होती है—"**पाठक मात्र पाठक ही नहीं—ऐसा पाठक जिसके रिक्त मस्तिष्क में लेखक की ओर से बातें ढाली जा रही हों—परन्तु वह स्वयं उपन्यासकार होता है और कथा के निर्माण में सक्रिय योग देने वाला। वह कवि ही क्या जिसने पाठक को भी कवि नहीं बनाया और वह कथाकार ही क्या जिसने पाठक को भी कथाकार नहीं बना दिया।**[2] अतः कथा या उपन्यास में संवेदन अपने-आप एकान्तिक रूप से (एकघनतया) सामाजिक के मन को प्राप्त होता है और मन के उस एकान्तिक संवेदन में अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित रसास्वादन के सात विघ्नों की, प्रत्यवायों की सम्भावना नहीं रह जाती है। होगी पर बहुत कम। दूसरी ओर नाट्य-प्रयोग में दर्शक के मन तथा दुष्यन्त-शकुन्तला के मूल-संवेदन के बीच अभिनय-व्यापार की भूमिका अभिकर्ता का काम करती है और दर्शक के मन की रहस्य-दर्शन-जिज्ञासा को अनुसन्धान करने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। वह अवसर नहीं मिलता, जिसमें अभिकर्ता (नट) से आगे बढ़कर मूलसर्जक कवि के भाव के साथ तादात्म्य किया जा सके। रहस्य-दर्शन के

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास . मेरी मान्यताएँ, पृ० १३१

२. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १३

अनुसन्धान में क्षण-क्षण पर जो परिणाम मन को प्रत्यक्ष हो सकते हैं, दूर के देशकालों का व्यवधान समाप्त कर अभिनय का मंच, अनुसंधान नहीं, आस्वाद के रूप में उन परिणामों को प्रकट करता है। पर सामाजिक का मन उनको किस क्रिया में ग्रहण करता है, अनुसन्धान में या आस्वाद में, यदि दोनों क्रियायें होती हैं तो अंगी क्रिया कौन है? इस वाद का निराकरण हो रहस्य-दर्शन और रसास्वाद (आनन्द) की सत्ता का मूल्यांकन है। कथा या उपन्यास के रहस्य-दर्शन पूर्णतया अंगी हैं, वही उपलब्धि है, आनन्द तो उसकी क्रियाशीलता का पाथेय है, अभिनय में रहस्य-दर्शन की क्रियाशीलता को अनुकरण प्रत्यक्ष कुंठित कर देता है। अतः ऐसा आभास होता है कि साधन उपभोग 'आनन्द' ही प्रधान है। कथा के रहस्यदर्शन की तुलना हम गिरि-चट्टानों के ऊपर-नीचे से छनकर प्रवाहित होने वाले निर्झर से कर सकते हैं, निर्झर की वह स्वाभाविकता चट्टानों की दूरी और संघर्ष में ही सम्भव है। इस देशकाल, दूरी, अवकाश तथा गतिशीलता को एकत्र समेट कर जिस प्रकार अभिनय में संजोया जाता है, वह कृत्रिम होकर भी मन के संवेदन का संस्पर्श पाकर प्रकृत हो जाता है, उसका कोई सही दृष्टान्त नहीं है। हां, उसकी आस्था का चमत्कार ग्राम्यलोक में ही हो सकता है, भरत ने स्पष्ट शब्दों में ग्राम्यधर्म की अप्रतिहत-प्रवृत्ति को नाट्य-रचना की मूल प्रेरणा बताया है जबकि लोक सर्वतः काम-लोभ के वशवर्ती हो गया था।[1] डा० उपाध्याय ने भी उक्त एकत्र समेटने की दुर्वह स्थिति की ओर संकेत किया है—"कहने का अर्थ है कि नाटककार पर कितने बन्धन रहते हैं और वे बन्धन मानो चेतना की मौलिक अव्यवस्था, उच्छिन्नता तथा क्रमहीनता, मण्डूकप्लुति के चित्रण में बाधक होते हैं।[2] अन्यत्र उन्होंने नाटक की इस असमर्थता की ओर तुलनात्मक निर्णय दिया है—"कविता को यथार्थ की भूमि पर उतारने की चेष्टा बहुत बार हुई है पर इतिहास साक्षी है कि यह बात पूर्णतया सम्भव नहीं हो सकी है। एक क्षण के लिए यह श्यामपरी इस भूमि पर उतरी हो, पर उसका मन यहां रमा नहीं है, वह उड़कर फिर अपने स्वर्णनीड में चली गई है। इस दृष्टि से नाटक अवश्य कुछ अधिक सौभाग्यशाली है पर उस पर रंगमंच इत्यादि के इतने बंधन हैं कि उनमें पड़कर यथार्थ का रूप ही विकृत हो जाता है। सच पूछा जाय तो उपन्यासों में भी यथार्थ का यथार्थावतरण नहीं हो सकता। इतना ही कह सकते हैं कि यहां पर इस अवतरण व्यापार के लिए सर्वाधिक सुविधायें हैं।[3] अतः नाटक में जिस रसास्वादन की व्याख्या की जाती है, वह मन के संवेदन

---

१. नाट्यशास्त्र अध्याय ११३-१०
२. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ७
३. डा० रांगेय राघव . उपन्यास, मेरी मान्यताएँ पृ० ११६

वृत्ति की एक ऐसी कमजोरी है, जिसके रहस्य-दर्शन की क्रियाशीलता पंगु हो गई रहती है, देशकाल के निगडित हो जाने से जिसको अपेक्षित योगदान बुद्धि द्वारा नहीं मिल पाता। इस प्रकार कथा की रहस्यदर्शन प्रवृत्ति का स्थिरीकरण प्रयोग अभिनय का संवेदन है।

रहस्यदर्शन प्रवृत्ति का यह संवेदन कथा या नाटक में सर्वत्र मन का मूल धर्म है। मन का यह मूलधर्म बुद्धि को अपने सहयोग में लपेटे रहता है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(गीता २।६७)

अर्थात् पवन द्वारा जल में नाव की तरह मन बुद्धि का अपहरण करता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि कुंठित या गतिहीन हो जाती है, मन उसका हरण कर अपने अनुसार उसका उपयोग करता है। बुद्धि के इसी सहयोग की अपेक्षा मन के रहस्यदर्शन में होती है। कथा में इस बुद्धि के योगदान का अवकाश विस्तृत होता है, अन्यत्र सीमित।

अपने निबन्ध 'आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में रहस्य-दर्शन-प्रवृत्ति' में रहस्य-दर्शन के जिस स्वरूप का स्पष्टीकरण डा० उपाध्याय ने किया है, वह एक व्यापक सिद्धान्त का मूल उत्स है। उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता है। उनके उद्धरणों से ही इस सिद्धान्त को कुछ विस्तार में समझाया जा रहा है, इससे हम अनुभव करेंगे कि रस-व्याख्या की मूल प्रवृत्ति किस प्रकार यहां सुरक्षित है। आश्चर्य की बात यह है कि उनके उद्धरणों का तात्विक सामञ्जस्य रस-दर्शन के सिद्धान्त को ही उलट देता है। अभिनवगुप्त ने नाट्यमंच पर अर्थ (रस) की जिस अलौकिक निर्विघ्न-संवेदनात्मक चर्वणा-गोचरता का वर्णन किया है, रहस्य दर्शन के सिद्धान्तों में वह अर्थ लौकिक एवं सविघ्न संवेदनात्मक चर्वणा-गोचरता के रूप में ही दृष्टिगत होता है। अभिनय में मन को किसी अन्य देशकाल की अन्तर्यात्रा कर रहस्यों के खोजने की रहस्यात्मक अनुभूति नहीं करनी पड़ती। लोकमानस (अभिनेता) द्वारा उनका अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। व्याप्य सामान्य जाति के अनुसार यह प्रत्यक्ष दर्शन सामाजिक के अपने भावों का दर्शन होता है और इसे अलौकिक प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्यों की व्याख्या के अनुसार यह अलौकिक प्रत्यक्ष जैसे अभिनय के दर्शन में हो सकता है, वैसे ही कथा, काव्य में भी पाठक का मन व्याप्य सामान्य जाति से अभिभूत होकर इस अलौकिक

प्रत्यक्ष का भागी बनेगा ही। पर अभिनय में यह अलौकिक प्रत्यक्ष किस प्रकार बाधित है, इस तथ्य की सिद्धि न केवल इस बात से हो जाती है कि नाटक की मूल प्रेरणा ग्राम्य धर्म की प्रवृत्ति है, वरंच सैद्धान्तिक कसौटी भी इसकी साक्षी है।

प्रश्न यह है कि रस का यह संवेदन ऐकान्तिक है। अभिनवगुप्त ने इसको 'रसनात्मकप्रतीत्यैकघनविश्रान्ति' कहा है। अभिनय के मंच पर इस एकघन-विश्रान्ति के लिए सर्वथा विपरीत परिस्थितियां होती हैं। एकघन-विश्रान्ति का अर्थ है तल्लीनता, कथा के भाव में सर्वथा डूब जाना। ऐसी तन्मयता—एकघन-विश्रान्ति तभी सम्भव है जब उनका अलौकिक प्रत्यक्ष-व्याप्य सामान्य जाति के अनुसार अभिनेता में सामाजिक का अपना मनोदर्शन पूर्ण सत्तात्मक हो, पर ऐसा सम्भव नहीं है। यह पूर्ण सत्ता रस के उदय के समय ही सम्भव होती है। रस का उदय रस्यमानता या चर्व्यमाणता है, इसकी अवधि अभिनय के समग्र काल में नहीं होती, निश्चित संयोग की उपस्थिति के साथ रसनिष्पत्ति होती रहेगी और तिरोहित भी होगी। अभिनव गुप्त ने रस को 'न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी' कहा ही है। अतः चर्व्यमाणता से अतिरिक्त काल में अलौकिक प्रत्यक्ष की स्थिति क्या होगी? निश्चित है कि चर्व्यमाणता से भिन्न स्थिति में देशकाल नियंत्रित नहीं रह जायेंगे और सामाजिक का मन बुद्धि को समेटे हुए कथा तथा पात्र के देशकाल में अपने को अनियंत्रित कर देगा। इस अनियन्त्रण या अनेकान्त में रस तो न रह जायगा पर रहस्यदर्शन फिर भी रहेगा। यह अनियंत्रण अथवा अनेकान्त लौकिक ही होगा। इनके बीच क्षण भर के लिए एकान्तिक विश्रान्ति-रस्यमानता कहां तक अलौकिक प्रत्यक्ष होगी, इस सत्यता की परीक्षा हम तब कर सकते हैं जब दर्शक के मन की तात्कालिक विषम स्थिति का आकलन कर लें। यदि अलौकिक प्रत्यक्ष का अर्थ केवल चमत्कार है, तब तो कोई बात नहीं है। अभिनवगुप्त की शब्दावली में अलौकिक-निर्विघ्न-संवेदनात्मक-चर्वणागोचरता का प्रयोग है। अलौकिक चमत्कार मान लें तो भी अभिनय की भूमि में यह रस्यमानता निर्विघ्न नहीं सम्पन्न होती, सविघ्न ही सम्पन्न होती है, निर्विघ्न स्थिति तो केवल कथारस में होगी।

नाट्यमंच पर दर्शक के मन की अनुभूति को जो एक विषम स्थिति का सामना करना पड़ता है, उसकी पूर्वपीठिका कुछ इस प्रकार आरम्भ होती है। चर्वणातिरिक्त काल में दर्शक का मन अनुकरण की जाती कथा के देशकाल में डूबना चाहता है अथवा उस कथा के रहस्य से अपने मन को

संगति पाकर अपने ही देशकाल में (जो नाट्यमंच पर नहीं है) तन्मय होना चाहता है, वह कथा के देशकाल में अपने मन को उसकी परिधि के साथ स्थानान्तरित भी कर सकता है, किन्तु मंच के अनुकरणकर्ता नट और उनके व्यापार दर्शक के मन को ऐसा करने में प्रत्यवाय सिद्ध होते हैं और स्थिति आनन्ददायक होकर भी प्रकृत नहीं रह जाती है, उसे चाक्षुष यज्ञ तो जैसा कालिदास ने कहा है[1], कह सकते हैं, पर मानस-यज्ञ रसचर्वणा का अलौकिक संवेदन यहां नहीं है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों ने इस प्रत्यवाय को देखा है और उसका निराकरण किया है, भट्टनायक ने कहा है– रस की प्रतीति परगत मानकर हम कुछ उपलब्धि नहीं कर सकते, अगर वह नट में उत्पन्न होता प्रतीत होता है या अभिव्यक्त होता तो इससे सामाजिक को क्या मिलेगा ? और स्वगत मानने पर देवताओं के कार्य-व्यापारों—समुद्रलंघन आदि के साधारणीकरण की अपने में असम्भव स्थिति– एक बाधा हो जाती है[2]। नाट्यमंच का नट भी समुद्र-लंघन आदि व्यापारों की नकल ही प्रस्तुत करेगा, जिसे सामाजिक कभी यथार्थतः अनुभव नहीं कर सकता, वरंच जिस काल उसके सामने यह नकल होगी, वह अपनी तन्मयता को भंग कर देशकाल के नियन्त्रण में चला जायगा और मूलरहस्य के प्रत्यक्षीकरण में अपने मन को संलग्न करने की चेष्टा करेगा। अभिनवगुप्त कहते हैं–"प्रतीति के लिए प्रत्यक्ष की आकांक्षा होती है, अतः साक्षात्कारात्मक स्फुट प्रतीति की विश्रान्ति शब्द या अनुमान से होने वाली परोक्ष प्रतीति में नहीं हो सकती[3]।" अभिनव गुप्त ने इसे रस के सात विघ्नों में गिनाया है। प्रत्यक्ष की आकांक्षा का अर्थ है कि अभिनयकर्ता नट से अनुकृत की जाने वाली मूलकथा ही द्विधा भाव में स्थित हो जायगी– क्या जो नट अनुकृत कर रहा है यही राम का चरित था ? या यह तो ऐसे ही एक भाव-दर्शन कर रहा है, वह और कुछ रहा होगा। अर्थात् न तो नट के अभिनय से रामचरित के प्रत्यक्ष किये जाने की आकांक्षा

---

१. मालविकाग्निमित्र १।४

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥

२. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, अभिनव भारती—
न सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।

३. वही
अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिंगसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुटप्रतीतिरूप-प्रत्यक्षोचित प्रत्ययसाकांक्षत्वात्।

पूरी होगी और न ही सामाजिक की मनोवृत्ति राम के देशकाल में पहुंचकर उस समय यथावत् अनुभूति करने में समर्थ होगी, क्योंकि आभासित प्रत्यक्ष-अभिनय में ज्ञानेन्द्रियां व्यापार-व्यस्त रहेंगी। प्रत्यक्ष तक मन पहुंच नहीं पाएगा और अभिनय के आभासित प्रत्यक्ष में उसकी विश्रान्ति नहीं होगी तथा 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' इति (न्याय सू० भा० १-३) के अनुसार वस्तु के बिना प्रत्यक्ष हुए मन की अनुभूति की पूर्णता न होगी। भट्टनायक ने इस विसंगति का समाधान इस प्रकार किया है कि अभिधाशक्ति के बाद द्वितीय अंश पर होने वाला भावकत्व व्यापार विभावादि का साधारणीकरण कर के अनुभव, स्मृति आदि से भिन्न प्रकार द्वारा रस (वस्तु) को भाव्यमान (प्रत्यक्ष) कर देता है। भट्टनायक का शब्द रस है यहां उसे वस्तु रूप में ग्रहण किया गया है, वस्तु अर्थात् देवताओं के असम्भव, असाधारण कार्य-व्यापार समुद्रलंघन आदि। अभिनव गुप्त के अनुसार अभिनय स्वयं में प्रत्यक्ष की प्रतीति या व्यापार ही है, अतः वहां प्रत्यक्ष की आकांक्षा बने रहने का अवसर नहीं होता। वे कहते हैं-प्रत्यक्ष की इस जिज्ञासा की विश्रान्ति के लिए ही लोकधर्मी-वृत्ति एवं प्रवृत्ति से संवारे गये अभिनय प्रकारों का विधान किया गया है, और अभिनय व्यापार शब्द तथा अनुमान से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष जैसा व्यापार है। अर्थात् अभिनय द्वारा मूलवस्तु का प्रत्यक्ष-दर्शन सामाजिक की मनोवृत्ति करती है।[1]

इस प्रकार भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने क्रमशः भावकत्व-व्यापार और अभिनयन व्यापार की स्थिति स्वीकार कर उस विसंगति का समाधान किया है जो विसंगति अनुकरणकर्त्ता नट के रंगमंचीय व्यापार से सामाजिक के मन की मूलवस्तु के प्रत्यक्ष-दर्शन की तन्मयता में उपस्थित होती है। यदि वह रंगमंचीय व्यापार न होता तो सामाजिक की मनोवृत्ति मूलकथावस्तु के ही देशकाल के स्वप्नतत्व में डूबकर रहस्यदर्शन में तत्पर हो जाती। नाटक का लेखक (कवि) और अभिनेता-नट दोनों एक प्रतिभा के नहीं हो सकते, तथा जहां तक सर्जन का प्रश्न है, कवि स्रष्टा है पर नट नहीं। अतः नाटक के अभिनय-व्यापारों से कथावस्तु को साक्षात्कार करने वाला मन जिस संवेदनात्मक चर्वणागोचरता की अनुभूति करता है वह लौकिक होगी, अलौकिक नहीं। क्योंकि अभिनय व्यापार को प्रस्तुत करने वाला नट अलोकसामान्य प्रतिभा कवि नहीं है, वह अनुकरण द्वारा जिस कथावस्तु की सृष्टि करता है, वह

---

१. नाट्य शास्त्र, षष्ठ अध्याय, अभिनव भारती—
तस्मात् तदुपायविश्रान्तिहेतोः, अभिनया लोकधर्मीवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः अभिधीयन्ते।
अभिनयनं हि शब्दलिंग-व्यापारविलक्षणमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निर्णेष्यामः।

अनुकृति है और लोक-सृष्टि है, वह माध्यम है, न वह अतीत है, न अनागत है, वह केवल वर्तमान है। अनुकृति में सबसे बड़ी समस्या घटना-व्यापारों के उपस्थित करने की होती है, जिसे कितने भी कौशल से अभिनय किया जाये, मनोभावों की स्वाभाविकता की भांति अभिनीत नहीं कर सकते। कवि की रचना अपने स्वरूप में चाहे वह नाट्य हो चाहे काव्य या कथा हो, मूल सृष्टि है, वह अतीत और अनागत है, वर्तमान का मन उसमें रहस्य दर्शन के लिए प्रवृत्त होता है, यों उसे अलौकिक भी कह सकते हैं। नट की कृति में प्रत्यक्ष दर्शन तो अवश्य है, पर उसके माध्यम होने से, मूलसृष्टि न होने से एकघन-विश्रान्ति का अवसर नहीं है और कवि की कृति में किसी माध्यम की अपेक्षा न होने से, सामने अन्य तथ्यों की भीड़भाड़ न होने से, मन को सीधे सम्पर्क का अवसर मिलता है, नाटक के अभिनय को देखकर तो मन अपने देशकाल में भी वहक सकता है पर यहां कवि-कृत सृष्टि-जगत् में यदि सर्जन की अवतारणा हो सकी है तो मन की तन्मयता दूसरी ओर नहीं मोड़ ले सकती और यहां मन की एकघन-विश्रान्ति का अवसर है। अतः नाट्यरस और कथारस में अन्तर है। कथारस में मन के रहस्य-दर्शन का आकाश अपने विस्तार में बिल्कुल खुला है और नाट्यरस में रंगीनियों के साथ नीचे उतारने की कल्पना की गयी है, कल्पित आकाश में रहस्यदर्शन का बहुत अवसर नहीं हो सकता। और 'रहस्य-दर्शन सृजन की पहली शर्त है।'

रसास्वादन या रहस्य-दर्शन की अलौकिकता के सम्बन्ध में यहां दो बातों का और उल्लेख कर देना जरूरी है। नट का कर्म-अनुकरण-व्यापार न तो अलौकिक हो सकता है और न उसकी उपलब्धि। उपलब्धि में यदि जो कुछ अलौकिकता का आभास होता है तो वह कवि का कृतित्व है। अतः नाटक में नट और कवि दोनों का अलग-अलग कृतित्व है और उसे अलग-अलग अपनी लोकोत्तरता प्राप्त हो सकती है, परन्तु यह लोकोत्तरता केवल चमत्कार है, अलौकिक-लोक में असम्भव उपलब्धि नहीं। डा० उपाध्याय ने एक प्रसंग में लिखा है—"**सम्मोहन में सम्मोहनशील व्यक्ति की दृढ़ नैतिक भावना के विरुद्ध जाने के लिए प्रेरित करना कठिन है।** एक सम्मोहक एक कालेज में प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों के समूह के बीच किसी सम्भ्रान्त महिला को सम्मोहनावस्था में ले गया। उसके हाथ में कागज की तलवार दे दी गई। अब आप उसे कहिए कि अमुक की हत्या करे, वह तुरन्त आपके आदेश का पालन करती है। जब उससे कहा गया कि तुम अपने अधोवस्त्र को उतार नग्न हो जावो तो तुरन्त उसकी सम्मोहनावस्था छू-मन्तर हो गई और वह क्रोध का प्रदर्शन

करती हुई घर चली गई ।[1]" मनोभाव की यह परिधि नट में भी है और वह लोक-सीमा का अतिक्रमण नहीं करेगा, उसका अभिनय लौकिक ही है, अलौकिक नहीं ।

यहां भी स्मरण रखना चाहिए कि नाट्यरस की उपपत्ति का निदर्शन वस्तुतः विसंगतियों के समाधान का व्याख्यान है । इसका उल्लेख पहले हो चुका है । रंगमंच पर अभिनीत घटनाएं अनुकरणमात्र हैं, वास्तविक नहीं है, उनको असत्य भी कह सकते हैं तब यह किस स्थिति का परिणाम है जो हम अनुकरण से प्रत्यक्ष को, असत्य से सत्य की उपलब्धि करते हैं । इस उपलब्धि का ही विस्तार भरत के रस-सूत्र की लम्बी व्याख्याओं में हुआ है । अतः नाट्यरस अपने में स्वतः कोई उपलब्धि या सिद्धि नहीं है, वह विसंगतियों का समाधान है, वह केवल माध्यम है, अब प्रश्न हो सकता है कि किसका माध्यम है, किस उपलब्धि का माध्यम है ? इसका ही उत्तर मन की रहस्य-दर्शन-प्रवृत्ति है ।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि क्या रहस्यदर्शन रसास्वादन से भिन्न स्थिति है, भिन्न उपलब्धि है, अलग सिद्धि है । यदि दोनों की व्याख्या एक ही हो, केवल नाम का अन्तर हो तो इस नामान्तर से कौन-सी नूतनता आई ? रस के सम्बन्ध में भावकत्व-व्यापार अथवा अलौकिक विभावन द्वारा रसास्वादन हेतु साधारणीकरण का निरूपण किया जाता है, जिसमें सामाजिक की चेतना अपने और परकीय निजत्व को अतिक्रान्त कर जाती है, डा० उपाध्याय ने 'चारुचन्द्र लेख' के एक प्रसंग का विश्लेषण करते हुए रहस्यदर्शन की इसी स्थिति का उल्लेख किया है-"**ताक-झांक रहस्यदर्शन की पद्धति भी उन साधनों में से एक है** । अन्तस्तल को मथित कर देने वाली परिस्थितियों के प्रभाव से राजा सातवाहन पर से राजत्व, चक्रवर्तित्व, सम्राटत्व के आरोपित आवेष्टन उसके व्यक्तित्व पर से झड़ जाते हैं और उसमें काम-तृप्ति की जो विशिष्ट पद्धति थी वायरिज्म वह सामने आ जाती है । बस वह जरा से संकेत पर ताक झांक में प्रवृत्त हो जाता है ।[2] इस कथन में कथा के नायक सम्राट के अपने निजत्व बोध को अतिक्रांत करने की स्थिति आलोचक ने स्वीकार की है । निजत्व बोध को अतिक्रान्त करने की यह स्थिति तब आती है, जब अन्तस्तल में झंझावात होता है कारणादि रूप पुराने मानसिक संस्कार अपनी प्रकृति में जाग उठते हैं—"अन्दर से झकझोर देने वाली प्रवृत्तियां जब अपनी

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : मेरी मान्यताएं, पृ० ४६
२. " " " पृ० १४५

सक्रियता पर आ जाती हैं तो मनुष्य की बाह्य उपाधियों की परतें झड़ जाती हैं और उसका व्यक्तित्व अपने मूलभूत तत्वों पर आ जाता है।"[१] "अतः राजा रहस्यदर्शन वाली परिस्थिति में आ जाता है। वह राजा था, चक्रवर्ती सम्राट था, रहस्य-दर्शन लुकाचोरी का यह चापल्य उसे शोभा नहीं दे पाता। पर इस भावावेश की विशिष्ट परिस्थिति में वह राजा नहीं रह गया था।"[२] इन उद्धरणों में रहस्यदर्शन के व्यक्तित्व लोप और भावावेश रस की स्थिति के तुल्य हैं। पर ताक झांक और अन्तस्तल को मथित करने वाली स्थिति रस की व्याख्या से विपरीत पड़ती है, यह रहस्य दर्शन का सत्य है, कथारस में (नाट्यरस में नहीं, क्योंकि वहां प्रत्यवायों का उदय होता रहता है) मन के अवगाहन की प्रक्रिया है। रहस्य-दर्शन की प्रवृत्ति में इस ताक-झांक और अन्तस्तल को मथने वाले उद्रेकों का आविर्भाव बुद्धि का योगदान है और इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। भावबोध या अर्थबोध में बुद्धि की इस अनिवार्य स्थिति के प्रति संकेत पाणिनीय शिक्षा में हुआ है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्। (६, ७)

अर्थात् "आत्मा बुद्धि से अर्थों को समेट कर बोलने की इच्छा से मन को नियुक्त करती है। मन शरीर-स्थित अग्नि पर आघात करता है, अग्नि शरीर-स्थित हवा को प्रेरित करता है, हवा हृदय में आवर्तित होकर स्वर के रूप में फूट पड़ती है।" अर्थात् बुद्धि के द्वारा पहले अर्थ का संचयन और फिर शब्द का उच्चारण होता है। शब्द के उच्चारण में जो क्रिया रही, अर्थ के बोध में भी उसका वह रूप बना रहेगा। शब्द ने हृदय से फूटते समय जैसे बुद्धि का सहयोग लिया, वैसे ही जब वह सुनने वाले के हृदय में बैठने लगेगा उसे बुद्धि के सहयोग की अपेक्षा होगी। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि द्वारा दिया गया चित्रकार का उदाहरण अधिक सटीक होगा। वे कहते हैं कि चित्रकार जिसका चित्र बनाना चाहता है, पहले उसके प्रत्येक अवयवों को देखता है, फिर उसको एक रूप में अपनी बुद्धि में स्थिर कर लेता है और तब फलक पर अवयवों के क्रमः से चित्र का निर्माण करता है—

यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥
(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड ५२)

---

१. डा० रांगेय राघव। उपन्यास : मेरी मान्यताएं, पृष्ठ १४५
२. " " " "

अतः कथा या साहित्य की अन्य विधा में पाठक आनन्द या रस की जो उपलब्धि करेगा, उसमें बुद्धि का योगदान अवश्यमेव होना चाहिए। रहस्य-दर्शन के सम्बन्ध में ताक-झांक तथा अन्तस्तल को मथने वाला उद्रेक अपने स्थान पर सत्य हैं। रसास्वादन का सिद्धान्त जो स्वीकार करते हैं, व्याख्या में भले इसका तिरोधान कर दें प्रयोग में वह नहीं है, प्रयोग में रहस्यदर्शन वाली बात ही सही है। अतः रस के सम्बन्ध में 'सर्वसामाजिकानाम् एकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय' अर्थात् सभी सामाजिकों को अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर एकमात्र साक्षात्कारात्मिका रस की प्रतीति होती है, की जो धारणा है रहस्यदर्शन में वह स्थिति नहीं है।

रस और रहस्यदर्शन की व्याख्या में दूसरा भेद व्यभिचारित्व और स्थायित्व का है। अभिनवगुप्त ने स्थायीभावों के स्थायित्व तथा व्यभिचारी भावों के अस्थायित्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि 'इसको ग्लानि हो रही है' ऐसा कहने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस कारण से, किससे ग्लानि हो रही है, यह जिज्ञासा ग्लानि के व्यभिचारित्व (अस्थायित्व) को प्रकट करती है और जब हम कहते हैं कि 'राम उत्साहशक्ति से युक्त हैं' तब किस कारण से, किससे की न जिज्ञासा होती है, न अपेक्षा, यह तथ्य उत्साह भाव के स्थायित्व को प्रकट करता है।[1] ऐसे ही जब हम सामाजिक को दृष्टि में रखकर रस का निरूपण करते हैं तो रस सामाजिक के लिए अस्थायी (व्यभिचारी) उपलब्धि है और रहस्यदर्शन स्थायी। क्योंकि रस तो तात्कालिक है, चर्व्यमाणतैकसार है, चर्वणातिरिक्त-कालावलम्बी नहीं है। इसके विपरीत रहस्यदर्शन मन की संजीवनी है, वह भोग नहीं, क्रिया-रत की स्थिति है अतः चर्व्यमाणतैकसार होकर वह क्षण-भर के लिए नहीं है, समग्र अनुभूतियों के साथ सतत स्थिर रहने वाला है। चर्वणा के अतिरिक्त काल में रस की स्थिति नहीं होती; पर रहस्यदर्शन में एक के बाद दूसरे का क्रम उदय होता रहेगा। 'जहां जरा सा भी अवसर मिला कि उसका मानस व्यापार वायरिज्म की परिस्थिति पैदा कर लेता है।[2]' 'ऐसा लगता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में पूर्णरूपेण Voyeuristic चक्र की स्थापना में जो कमी थी उसको कथाकार की अन्तः प्रज्ञा ने पूरा कर दिया।[3]' 'बस वह जरासे संकेत पर ताक-झांक में प्रवृत्त हो जाता है। एक

---

१. ना० शा० अध्याय ६।३१ अभिनवभारती
तथाहि ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनास्थायितास्य सूच्यते।
न तु राम उत्साहशक्तिमान् इत्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः।

२. डा० रांगेय राघव। उपन्यास। मेरी मान्यताएँ, पृ० १४८

३. " " " पृ० १४९

ऐसे परिधान की कल्पना कीजिए जो एक विशेष ढंग से तहिया दिया गया हो। सम्भव है कि कुछ कारणों से उसका तह ठीक नहीं रह गया हो, मतलब वह दवाव में पड़कर तुड़–मुड़ गया हो, पर जहां उसे थोड़ा–सा प्रोत्साहन परिस्थितियों की ओर से मिला कि वह जरा-सा संकेत पाते ही अपनी पूर्व-परिस्थिति पर आने को लपकेगा।'[1] डा० उपाध्याय के इन उद्धरणों से उनके रहस्यदर्शन के रूप और क्रियाशीलता पर प्रकाश पड़ता है। मानस व्यापार ही रहस्यदर्शन का रूप लेता है ऐसा कहने में अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का विरोध नहीं होता, क्योंकि उन्होंने मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीत–साधारणीकरण–क्रिया की स्वीकृति दी है [2]। क्रियाशीलता का भी वे समर्थन करते हैं, 'तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसंधानं स्यात्।' और अन्यत्र उन्होंने जो यह कहा है कि सामाजिक व लौकिक अनुमान की प्रक्रिया से नाटक में प्रमदा आदि के विभाव आदि व्यापारों को ताटस्थ्यभाव से नहीं ग्रहण करता, वरंच हृदयसंवादात्मक (सभी के हृदय की एकरूपता रूप) सहृदयत्व के बल से अखंडरसास्वाद के अंकुर तथा एकलीनता से उपस्थित चर्वणा के रूप में ग्रहण करता है[3]।" वह हृदय-संवादात्मक-क्रियाशील-सहृदयत्व मन की रहस्यदर्शन-वृत्ति ही है। यहाँ अभिनवगुप्त ने यह कहा है कि सहृदयत्व की यह क्रिया अनुमान, स्मृति आदि का सहारा नहीं लेती—(अनुमान-स्मृत्यादिसोपानमनारुह्य एवं) पर इसकी अधिक प्रामाणिकता रहस्यदर्शन की वृत्ति में है। क्योंकि वहां मन इन्द्रियों के स्वप्न में बुद्धि को अपना अनुचर वनाये अप्रतिहत गति से उपस्थित होता है, हमें डा० उपाध्याय के रहस्यदर्शन सिद्धान्त को इस प्रकार विस्तृत परिभाषा में ग्रहण करना चाहिये।

रहस्य-दर्शन की विस्तृत परिभाषा में ही हमने ऊपर इसको रसास्वादन की प्रकृत संज्ञा दी है और उस संज्ञा की व्याख्या में कई बातें कही हैं। जैसा कि डा० उपाध्याय ने कहा है, अब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में रहस्यदर्शन की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, यह तो सत्य है ही, किन्तु रहस्यदर्शन की सत्ता के दर्शन इसके पूर्व भी कवि-कृतियों में तथा संस्कृत की रचनाओं में होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'चारुचन्द्र लेख' में यह रहस्यदर्शन अभिधात्मक हो गया है, रहस्य या गोपन इसके

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : मेरी मान्यताएँ, पृ० १४५-४६

२. ना० शा० अध्याय ६।३१ अभिनव भारती

वाक्यार्थं प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्त कालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

३. ना० शा० अध्याय ६।३१ अभिनवभारती.

जीवन की दूसरी शर्त है। कथा की भाव-भूमि में, उसके देश-काल में सर्जक (कृतिकार) के मन की रहस्य-यात्रा ही रहस्य दर्शन का स्वरूप है, कहीं वह केवल ताक-झांक में सीमित रहता है, कहीं निर्भर, स्थिरता प्राप्त कर पाठक की सुध-बुध भुला देता है। अतीत या अप्रत्यक्ष होना भी रहस्यदर्शन के लिए आवश्यक है, ऐसा होना डा० उपाध्याय के अनुसार सौन्दर्याधायक तत्व की स्वतः उपस्थिति है, यद्यपि यह बात उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्य के सम्बन्ध में कही है—"**प्राचीन कवियों के काव्य में यह अतीतत्व ही एक अतिरिक्त सौन्दर्यमूलक तत्व के रूप में अवस्थित होकर रह गया है। अतः उनके प्रति लोगों के हृदय में आकर्षण के भाव हैं**[1]।" केवल अतीतत्व में जहां इतना आकर्षण है तब वहां क्या कहना, जहां पर अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों एक साथ एक ही बिन्दु पर गतिशील होकर चमत्कृत होते हों, रहस्यदर्शन का यही क्रियापरत्व रूप है। मनोभावों का त्रिकाल-सत्य इसे यह विराट् धरातल दे देता है।

यहां एक बात द्रष्टव्य है। यदि कहीं सर्जक (कवि) असावधान हुआ और वह कथा के देशकाल में अपने मन को ठीक से विनियुक्त न कर सका तथा मन ने प्रमाद कर कवि तथा कथा— दोनों के देशकाल में द्विधा अन्तर्दृष्टि लगा दी तो रहस्यदर्शन का जीवन (चमत्कार) तिरोहित हो जाता है। यहां हम कवि 'दिनकर' की एक कविता उदाहृत कर रहे हैं, जो इस द्विधा-भ्रान्ति का नमूना है, साथ ही इस बात का जबर्दस्त प्रमाण है कि सर्जक (कवि) अपने अन्तर्मन को रहस्यदर्शन में नियुक्त करता है, जो उसका भुक्त या भोग्य है, वह उसकी सृष्टि है। कविता 'उर्वशी' के प्रथम अंक से ली गयी है—

> **नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कुसुम विभा छायी है**
> **ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मेघ गगन में।**
> **खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं**
> **चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चांदी के**
> **या प्रशान्त, निस्सीम जलधि में जैसे चरण चरण पर**
> **नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों।**

यहां निर्मेघ गगन में द्वादशी का चन्द्रमा और उसकी चांदनी कथा का देशकाल है, जिसमें उर्वशी तथा पुरुरवा का प्रथम मिलन होता है पर इसी समय कवि का अन्तर्मन अपने भुक्त देशकाल में भी चला गया, जो द्वादशी के चन्द्रमा का

---

१. डा० रांगेय राघव · उप यास / मेरी मान्यताएं' पृ० ५०१

नहीं था, उसमें चन्द्रमा से विहीन नीला आकाश और उसमें तेज प्रकाश में चमकते हुए स्फुट तारे थे, कवि कथा में समाविस्थ नहीं रहा, कथा इतना स्निग्ध थी कि मन बहक कर आनन्दातिरेक में अपने देशकाल में डूब गया, उसे ध्यान नहीं रहा कि चांदनी से दीप्त आकाश का वर्णन करना है जिसमें तारों की ज्योति मद्धिम पड़ जाती है, वे नीलचीर पर चांदी के बूटों की तरह दीप्त नहीं होते। वस्तुतः कवि ने अपने मिलन की किसी रात का वर्णन कर दिया। और इस द्विधा-स्थिति से तत्वान्वेषी पाठक के लिए कविता में चमत्कार नहीं रह गया। दूसरी ओर इस कविता ने लक्षण-अनुसन्धान करने वाले समीक्षक को प्रमाण का काम दे दिया कि सर्जक (कवि) का अन्तर्मन देशकाल के रहस्यदर्शन में नियुक्त होता है। देशकाल का नियंत्रण नहीं होता। नियंत्रित देशकाल का चर्व्यमाणतैकसार रस से अधिक सत्य देशकाल में अन्तर्मन को डुबाने वाला यह रहस्यदर्शन का क्रियातत्परत्व है।

सर्जक अर्थात् साहित्यकार की इस सार्वकालिक सार्वभौम सत्ता की ओर डा॰ उपाध्याय ने अपने एक निबन्ध–'साहित्य नहीं साहित्यकार' में अलग से ही प्रकाश डाला है, जो रहस्यदर्शन की प्रामाणिकता में एक और साक्ष्य है। उस निबन्ध के कुछ उद्धरण हैं–

"जब व्यक्ति की प्रतिभा अपने स्थूल आवरणों का भेदन करने लगती है, वेदान्त के अनुसार जब वह अन्नमय कोष से आगे बढ़कर प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष की ओर बढ़ने लगती है तो व्यक्ति कवि बनने लगता है। **साधारण व्यक्ति और कवि में यही अन्तर है कि जहां व्यक्ति व्यक्तित्व की सीमा में ही सीमित रहता है वहां कवि अपने को सार्वकालिक और सार्वभौम बना सकता है। ऐसी भाषा बोलता है, ऐसे भाव अभिव्यक्त कर सकता है जो सब के लिए ग्राह्य हों।**[1]

"कालिदास या शेक्सपियर के शब्द हमारे लिए सारगर्भित होते ही हैं और आज भी हम उनमें अपने जीवन का पोषक तत्त्व पाते ही हैं। यह इन्द्रजाल रचना में नहीं, कृति में नहीं, परन्तु रचनाकार तथा कृतिकार की महानता में है।.......ईश्वर अपनी सृष्टि में रमा तो है पर उसमें ही वह समाप्त नहीं हो जाता। वह उससे भी परे है जो सृष्टि स्रष्टा को दिखलाये या उसे देखने के लिए प्रेरित करे, वही सही बात है। जो सृष्टि के ही ऊहापोह में रह जाते हैं वे गलत राह पर हैं[2]।"

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ८१
२. " " पृ० ८१, ८३

"आप रचनाके सौष्ठव की प्रशंसा कर सकते हैं, उसकी पंक्तियों की बारीकी तथा अलंकारों के प्रयोग पर फड़क उठ सकते हैं। कथा के गौरव पर मुग्ध हो सकते हैं अथवा ऐसे अनेक काम कर सकते हैं। पर जब आप वह चीज ढूंढ़ने लगेंगे, जिसके चलते रचना की यशकाया जरामरणज भय से मुक्त रहती है तो आपको रससिद्ध कवीश्वर की प्रतिभा की ओर देखना होगा [१]।"

यहां आप रससिद्ध कवीश्वर की प्रतिभा से रहस्यदर्शन की व्युत्पत्ति का विरोध न मान लें। इस प्रकार रस शब्द का प्रयोग रचना की चारुता के पक्ष में कुछ और स्थलों पर भी उपाध्याय जी ने किया है। पर उसका अर्थ केवल आनन्द से है, जो रहस्यदर्शन का साधन है, सिद्धि नहीं। क्रियाशीलता का पाथेय है। पहले के उद्धरण में उपाध्याय जी ने कहा है कि व्यक्ति आनन्दमयकोष के साथ कवि बनने लगता है।

संस्कृत-काव्य से भी एक उदाहरण दे देना, विषय की सम्यक् संनिद्धि के लिए ज्यादा उपयुक्त होगा। 'नैषधीय चरित' श्रीहर्ष कवि की प्रसिद्ध रचना है। इस काव्य की प्रशंसा स्वयं कवि ने उसे 'शृंगारामृतशीतगुः'—शृंगार-रूपी अमृत का चन्द्रमा कह कर की है। किन्तु विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के जिस संयोग से रस-निष्पत्ति का जो शास्त्रीय लक्षण किया जाता है, ऐसे लक्षण से अन्वित प्रयोग 'नैषधीय चरित' में अत्यन्त विरल हैं। यह काव्य-कल्पना की ऊंची उड़ान की सूक्तियों से लोकप्रिय हुआ है और इसकी सूक्तियों में शब्द-प्रयोग के वैचित्र्य देखकर विद्वान् चमत्कृत होता है। रस-निष्पत्ति के लक्षण से अन्वित प्रयोगों से अधिक चमत्कारशाली इसके कुछ रहस्यदर्शन के घटनापरक, पुलकित कर देने वाले प्रसंग हैं, जिनमें अन्तर्मन डूबकर सुधि-बुधि खो बैठता है। एक प्रसंग उदाहृत किया जाता है, नल दिक्पालों का दूत बनकर दमयन्ती के पास यह संस्तुति करने गया है कि वह इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण में से किसी को वरण करे। वह अपने दूत धर्म का पूरा निर्वाह करता है, दमयन्ती का सौन्दर्य देखकर वह अधीर तो होता है, पर कर्तव्य–च्युत नहीं होता। दमयन्ती नल के लिए अपने को सर्वात्मना समर्पित कर चुकी है। कल ही स्वयंवर होने वाला है। नल दिक्पालों की भूरि–भूरि प्रशंसा करता है और उनको वरण करने में ही दमयन्ती के जीवन की सार्थकता बताता है। पर इन बातों का उल्टा प्रभाव पड़ता है, दमयन्ती की राजा नल से मिलन-उत्कण्ठा और भी तीव्र हो जाती है, कल ही स्वयम्वर होगा, पर एक दिन की अवधि

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ८१

भी उसको दुर्वह हो रही है। सम्भावना यह है कि इस विरह में उसके प्राण छूट जायेंगे। कवि का अन्तर्मन यहां समाधिभूत होकर रहस्यदर्शन कर रहा है, दमयन्ती की विरह-वेदना का यह आतिशय्य केवल इसलिए नहीं है कि कल स्वयंवर में दिक्पाल उसके और नल के मिलन में भारी अन्तराय पैदा करेंगे, भविष्य अन्धकार में है अतः उसके प्राण छूटना चाहते हैं, वरंच विरह का यह आतिशय्य इसलिए भी तीव्र हो रहा है कि जिससे मिलने की उत्कण्ठा में वह व्याकुल है वह सामने है, पर छद्मरूप से, लेकिन इससे क्या होता है? 'प्रमाणमंतः करणप्रवृत्तयः' की अज्ञात रहस्यमय गतिशीलता तो कुंठित नहीं हो सकती, दोनों अन्तर्मनों के मिलन का विद्युद् वेग अनजाने ही भीतर ही भीतर आघात-प्रतिघातों से चूर हो रहा है, जो बहुत स्वाभाविक था। कवि के अन्तर्मन ने इसे पहचाना, उसने दमयन्ती की सखी से नल को उत्तर दिलवाया है—

तमर्चितुं मद्वरणस्रजा नृपं
स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरै-
स्तदन्तरायः पुनरेष वासरः॥
तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे
दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी
नखैः किलाऽख्यायि विलिख्य पक्षिणा
तवैव रूपेण समः स मत्प्रियः॥ (६।६५।६६)

अर्थात् दमयन्ती ने कहा—स्वयंवर तो कल होगा, जिसमें मैं अपनी जयमाला से उस राजा (नल) की अर्चना कर सकूंगी, पर क्या बताऊं परि-स्थितियों ने मुझे अधीर बना दिया है, राजा के विरह में मेरे प्राण उसके पहले ही छूट जाना चाहते हैं। यह एक दिन का जो अन्तराय पड़ रहा है, किसी प्रकार बीत जाता तो अपने प्रियतम राजा के दर्शन हो जाते। इसलिए हे दूत! तुम मेरे ऊपर दयालु बनो, आज मेरे यहां ही विश्राम करो, मैं तुमको देखते हुए एक दिन की अवधि बिता दूंगी, क्योंकि जब हंस पक्षी ने अपने नखों से रेखा खींचकर मेरे प्रिय का जो रूप चित्रित किया था, वह चित्र तुमसे मिलता है, तुमको देखने में मुझे प्रियदर्शन का सुख मिलेगा।

रमकचर्व्यमाणतैकसार रस की शास्त्रीय व्याख्या की जाती है, उसके लक्षण योग भले ही यहां न घटते हों, पर इसकी उपलब्धियां उस दिशा में अधिक हैं। और यह है रहस्यदर्शन की क्रियातत्परता का सुष्ठु प्रयोग। यह प्रसंग चाहे नाटक में हो अथवा काव्य कथा में, सामाजिक का मन डूब कर उतराना नहीं चाहेगा। कम से कम इस प्रसंग से तो यह सिद्ध ही है कि काव्य में वह भी स्थिति है जो रससिद्धि से बढ़कर सामाजिक के मन को विगलित कर सकती है। डा० उपाध्याय के अनुसार उसकी संज्ञा रहस्यदर्शन है। कालिदास-कृत कुमारसम्भव में भी पार्वती तथा ब्रह्मचारी के संवाद में ऐसे रहस्यदर्शनात्मक प्रसंग की उद्‌भावना की जा सकती थी, लेकिन सारा संवाद शिव के विभव और पार्वती के अटूट प्रेम की तर्क तथा उपपत्तियों में ही समाप्त होता है। श्रीहर्ष यहां कालिदास से आगे हैं।

इस प्रसंग में संस्कृत-काव्य के एक और भी उदाहरण की चर्चा करना आवश्यक है, जिससे डा० उपाध्याय के दो सिद्धान्तों की एकसाथ साक्षी हो जाती है। एक तो यह कि साहित्य से अधिक हमें साहित्यकार की ओर देखना चाहिए और दूसरी बात यह है कि जितना महान् साहित्कार होता है, उसका अन्तर्मन उतने ही गहन रहस्यदर्शन में डूबकर सर्जन के लिए प्रवृत्त होता है, जिसकी कल्पना भी कोई पाठक नहीं कर सकता। मनोभाव की असीम अतल गहराई कवि को उसकी रचना से ऐसे एकाकार कर देती है, जिसके विलगाव की सही युक्ति भी संशयास्पद बनी रहती है। अभी पिछले अध्याय में आदि-कवि का प्रसिद्ध श्लोक, जिसमें क्रौंच द्वन्द्व वियोगोत्थशोक की अभिव्यक्ति हुई है, उद्धृत किया गया है—

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

अर्थात् हे निषाद ! तुम सौ वर्ष तक शान्ति न प्राप्त करो, जो क्रौंच के जोड़े में से काममोहित क्रौंच का वध कर दिया (और क्रौंची को अनाथ कर दिया)। पीछे के अध्याय में यह बात कही गयी हैं कि आदिकवि ने इस पद्य की रचना में ईमानदारी का निर्वाह नहीं किया है, वह चाहते तो थे ऐसा, पर क्रौंची के शोक को प्रकट करने के पहले, जो काव्य का मुख्य विधेय था, उनका ऋषि-धर्म ही उग्र हो गया और उन्होंने व्याध के लिए दण्ड-विधान की घोषणा करदी, क्रौंची के शोक को काव्य रूप देने से रह गये। ऋषि का शोक अभिशाप में बदल गया। किन्तु इसके आगे जब हम आदिकवि के अन्तर्मन के

रहस्यदर्शन को देखते हैं, उसके अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं तो बात स्पष्ट हो जाती है। बेचारा कवि क्रौंची के शोक के प्रति ईमानदारी का निर्वाह कैसे करता? उसका अन्तर्मन तो अन्यत्र विलख रहा था। आदि-काव्य का इतिहास बहुत पुराना है। उसके पूर्वापर तारतम्य की कोई प्रामाणिकता नहीं। हमें अनुसंधान के बल पर ही कुछ बोध हो सकता है। तमसा नदी के तट पर क्रौंच का यह वध देखने के पूर्व कदाचित् कुछ ही दिन पहले आदिकवि वाल्मीकि ने लक्ष्मण द्वारा गंगा के तट पर निर्वासित की गयी सती सीता का दिशाओं को कंपा देने वाला क्रन्दन सुना था, अपने विद्यार्थियों द्वारा सूचना पाकर वे सीता को आश्रम में लाये थे और पिता जैसे बनकर उनकी रक्षा की थी। अतः बाल्मीकि के अन्तर्मन में सीता का क्रन्दन गूंज रहा था, क्रौंची के क्रन्दन ने उसे पुनः तीव्र किया और उन्होंने व्याध को अभिशप्त कर दिया। नहीं तो, आश्रम में रहते हुए ऋषि ने कितने हिरणों और पक्षियों का वध देखा होगा। आदिकाव्य के अनुसार ही राम ने चित्रकूट पहुंचकर जब पर्णकुटी बनाई तब वास्तुशान्ति के लिए लक्ष्मण ने काले हरिण का वध कर उसका मांस पकाया था अतः पशुओं एवं पक्षियों का वध तो वहां आये दिन की बात थी। तब इस क्रौंच के वध में कोई नई बात नहीं थी, जो ऋषि को कवि कर्म के लिए प्रेरित करती! क्रौंच वध के पीछे, क्योंकि वध के पहले यह जोड़ा कामकेलि में मग्न था, क्रौंची की अनाथता के क्रन्दन ने ऋषि के हृदय में विलखती सीता को खड़ा कर दिया! राम को तो वे अभिशप्त करने में असमर्थ थे, क्योंकि उस मर्यादापुरुष ने इस घटना के पीछे अपने बहुत बड़े सुख का त्याग किया था, ऋषि भी उससे प्रभावित थे, उन्होंने व्याध को ही शाप दे डाला। यहां दोनों बातें हमें उपलब्ध हुईं—पहली बात यह कि साहित्यकार वाल्मीकि की छानबीन करने पर ही उक्त श्लोक के मर्म का उद्घाटन होता है तथा दूसरी बात रहस्यदर्शन की है। कवि का अन्तर्मन अनजाने कहां से कहां किस रहस्य में डूबकर सर्जन में प्रवृत्त हो जाता है, इसकी पहचान बहुत सरल नहीं है।

इस श्लोक की व्याख्या के साथ एक बात और कहनी है। क्रौंची के शोक के पीछे सीता के क्रन्दन का वेग और राम पर रोष न कर ऋषि द्वारा व्याध का अभिशप्त होना—एक बेतुकी बात मानी जायेगी। पर मनोविज्ञान के सिद्धांतानुसार इसकी सत्यता सिद्ध है। यह मानस की वह अज्ञात प्रक्रिया है, जिसे स्थानान्तरीकरण कहते हैं। संस्कृत वाङ्मय में देवी द्वारा असुरों के वध में उनकी मुक्ति का हर्ष तथा राम द्वारा रावण के मारे जाने में अनायास

उसकी सद्गति की अभिव्यक्ति, क्योंकि तामस शरीर से तप होना सम्भव नहीं था, ऐसे प्रसंग हैं जो मानस की स्थानान्तरीकरण प्रक्रिया की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः यह मुक्ति और यह सद्गति असुरों की या रावण की नहीं है, इस कथा के गायक कवि के मन की अपनी ऐषणा है। डा० उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में समीक्षा के बीच दो-तीन चर्चाएं की हैं, एक को यहां दिया जा रहा है। कविता कवि-जीवन की ही गुप्त कथा कहती है। उसका अचेतन मन साधारण-सी कथा के माध्यम से युग को बहुत बड़ी चेतावनी दे देता है। उसके मनोभाव स्थानान्तरीकरण कर अपनी तृप्ति संजोते हैं—"यदि अप्रासंगिक न समझा जाय तो एल० ए० जी० स्ट्रांग की पुस्तक 'पर्सनल रिमार्क्स' के 'दि पोएट एण्ड रियलिटी' से अपनी बात का समर्थन करने के लिए उदाहरण लूं। एक साधारण-सी कविता है, जिसमें कोई विशेषता नहीं। स्वयं कवि को भी इसमें कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। परन्तु अनेक वर्षों के बाद जब उसे कविता पढ़ने का अवसर मिला तो किसी रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा उसमें उसको बहुत सी विशेषताएं नजर आने लगीं कि अरे! वह तो कविता की इन पंक्तियों के द्वारा अपने जीवन की ही गुप्त कथा कह रहा था।" **कवि ने अनेक वर्षों के बाद स्वरचित कविता पढ़ी। मतलब वह सृजक नहीं रहकर पाठक रह गया था और उस पाठक ने कवि की कविता में कवि-जीवन की गुप्त कहानी पढ़ी।**" पुनः आगे उन्होंने डा० रांगेय राघव के उपन्यास 'कब तक पुकारूं' को लक्ष्य कर लिखा है—"इसी तरह मुझे लगता है कि अहर्निश अपने प्राणों का दीप जलाकर साहित्यमन्दिर को ज्योतिर्मय करने वाला पुजारी अपने युग को चेतावनी दे रहा था कि कब तक पुकारता रहूँगा, मैं सदा वर्तमान रहने का नहीं। मैं आखिरी आवाज दे रहा हूं। तुम्हें अब भी चेतना चाहिए और जीवन, साहित्य तथा संस्कृति की रक्षा में संलग्न होना चाहिए[1]।"

अभिनव गुप्त ने रसानुभूति के चमत्कार को साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय, संकल्प अथवा स्मृति कहा है। उन्होंने प्रमाण में कालिदास की एक उक्ति उद्धृत की है—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
> (शकु० ५।२)

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : 'मेरी मान्यताएं', पृ० ४१-४३

अर्थात् सुखी जन भी जो कभी सुन्दर वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर किसी के अभाव से व्याकुल हो उठता है वह निश्चय ही पूर्वजन्म के उन सुहृद् भावों का चित्त से स्मरण करता है, जिनका बोध तो नहीं होता पर जो वासना रूप से मन में स्थित होते हैं।

यहां 'स्मरति' पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह तर्क-शास्त्र में प्रसिद्ध ज्ञानविषयक स्मृति नहीं है, वरंच 'प्रतिभान' जिसकी दूसरी संज्ञा है, साक्षात्कार स्वभाव वाली रसास्वादन की क्रिया रूप यह स्मृति है। तथा यह मानस-व्यापार है[1]। कालिदास के शब्दों में यह स्मृति अबोधपूर्वा—अनजानी स्मृति है, जो अनजाने ही मन को पर्युत्सुक बना देती है। अभिनव-गुप्त ने इसे साक्षात्कार स्वभावा रसास्वादन क्रिया की स्मृति कहा है परन्तु यदि डा० उपाध्याय की रहस्यदर्शनप्रवृत्ति-प्रक्रिया का धर्म इसको स्वीकार कर लिया जाये तो इसका स्वरूप अधिक स्पष्ट होकर सामने आ सकता है। मानस का यह स्मृति-व्यापार रहस्यदर्शन में ही अधिक क्रियाशील होता है। और तब तर्क-शास्त्र की स्मृति की परिभाषा का अवरोध भी सामने नहीं आता।

इसी प्रकार शंकुक के सिद्धान्त को लेकर रति के अनुकरण को कृत्रिम मानकर सामाजिकों द्वारा विभाव आदि के कृत्रिम रूप से ग्रहण किये जाने पर रति की अवगति को झूठ प्रमाणित किया गया है—"किंकृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा। यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः?" शंकुक-पक्ष की ओर से इसके समाधान में यह स्वीकार किया जाता है कि प्रतीयमान रति ही (जो वास्तविक रति नहीं होती) अनुकरण बुद्धि का कारण होती है और यही अनुक्रियमाण रति रस है—'नन्वत एवं प्रतीयमाना रतिरनुकरणबुद्धेः कारणम्।' यहां सही उत्तर कुछ और होना चाहिए। सामाजिक द्वारा वह अनुक्रियमाण रति कृत्रिम रूप में नहीं ग्रहण की जाती। रति कृत्रिम है या अनुकृत है, सामाजिक का मन उसे अपने अवचेतन-अचेतन (तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्) के अन्तर्मन की रहस्य-प्रक्रिया से ग्रहण करता है, अतः 'कृत्रिमत्वेन' के स्थान पर **विभावादयः कृत्रिमाःसन्तः रहस्यत्वेन सामाजिकैर्गृह्यन्ते** यदि कहा जाए तो किसी प्रश्न का अवसर नहीं रहेगा।

इतना तो सत्य है कि रंगमंच पर सब कुछ अनुकृत ही हो रहा है, कृत्रिम ही है। इस कृत्रिम सृष्टि में ही दर्शक का मन आनन्द-निमग्न हो रहा है, क्या यह आनन्द झूठा है? ऐसा कहा नहीं जा सकता, सामाजिक की तन्मयता

---

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, अभिनव भारती

आनन्द का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः इस रंगमंच की अनुकृति को कथाकार या कवि की वाणी का रंगमंचीय रूपान्तर स्वीकार किया जाना चाहिए। वाणी जो रंगमंच के पटों, व्यापारों के अक्षरों में मुखरित होती है, पढ़ी जाती है।

ऐसी उपलब्धि यदि स्वीकार की जाय तो रस-व्याख्याताओं ने जो अनेक प्रश्न उठाये हैं, उनमें से कुछ अपने आप सत्ता-हीन हो जाते हैं और कुछ रहस्यदर्शन की प्रक्रिया में अन्तर्भूत होते हैं। भट्टनायक का दूसरा उदाहरण भी लीजिए। उन्होंने अभिधा के द्वितीय अंश पर भावकत्व व्यापार की कल्पना की है। और शंकुक के अनुक्रियमाण रति की अस्वीकृति में कुछ कारण दिये हैं। उनका एक कथन है कि 'न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्ध-त्वात्।' अर्थात् राम की रति का जो अनुकरण हो रहा है, स्मृति रूप में उसकी रसानुभूति हमें नहीं होगी, क्योंकि स्मृति पूर्व उपलब्ध किये गये अर्थ की होती है, राम या उनकी रति को हमने कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है, फिर स्मृति कैसे होगी ? लेकिन भावकत्व व्यापार द्वारा जब यह राम की रति भाव्यमान होगी, भाव्यमान अर्थात् साधारणीकृत—जिसे प्रत्येक सामाजिक अपना अनुभव करेगा, तब भाव्यमान की वह अन्तःप्रक्रिया क्या होगी ? भट्टनायक इसका विश्ले-षण नहीं करते। और अभिनवगुप्त के मत में जब कटाक्ष, उद्यान आदि कारण अपने लौकिक धरातल को अतिक्रान्त कर विभावन, अनुभावन, समुपरंजकत्व की अभिव्यक्ति करने लगते हैं तब लौकिक धरातल को अतिक्रान्त करने की यह शक्ति सामाजिक की मनोभूमि में कहाँ से आती है ? इसका उत्तर अभि-नवगुप्त की व्याख्या में नहीं है। प्राच्य कारणादि रूप संस्कारों का उपजीवन भी एक उपलब्धि है, करणप्रक्रिया नहीं है, न इस उपजीवन को उक्त प्रश्न का समाधान माना जाएगा। इसी तरह आगे भी उन्होंने जो बातें कही हैं वे प्रश्न खड़ा करती हैं—सामाजिक की बुद्धि में सम्यक् योग के सम्बन्ध की एकाग्रता से वासना रूप में जागृत विभाव, अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणा को प्राप्त अर्थ—आदि। अतः राम की स्मृति का प्रश्न नहीं है और न कटाक्ष—उद्यान आदि कारणों द्वारा लौकिक धरातल को अतिक्रान्त करने की समस्या है वरंच सामाजिक के मन की रहस्य प्रक्रिया से अन्तर्मन में रंगमंच की अनुकृति लोक की शाश्वत भावनाओं में सजीव हो उठती है। मन का अपनी इन्द्रियों एवं बुद्धि के साथ विषय-वासना के असीम लोक में विचरण, दर्शन का अका-ट्य सत्य है। यह विचरण ही साहित्य का रहस्य-दर्शन है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भावना-दोष व्यापार को रस-निष्पत्ति का साधक माना है। उनका कहना है कि शकुन्तला दुष्यन्त आदि की रति का ग्रहण तो

व्यंजना व्यापार से हो जाता है, पुनः भावना-दोष व्यापार से सहृदय सामाजिक की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्वादि से आच्छादित हो जाती है तब इस प्रकार उक्त अज्ञान से अवछिन्न अन्तर्मन यथोक्त विषयक रति की अनुभूति करने लगता है, यह अनुभूति ही रस है। इस प्रकार भावना-दोष से अन्तर्मन का अवच्छादन पण्डितराज जगन्नाथ के मत में अनिर्वचनीय ख्याति है[1]। भावना-दोष से सहृदय का अपने को दुष्यन्त समझने लगना जो उस समय सत् भी है असत् भी—अनिवर्चनीय ज्ञान है। पर यदि हम इस भावनादोष को रहस्यदर्शन की वृत्ति के रूप में ग्रहण करें तो सहृदय को अपने को दुष्यन्त समझने की कष्ट कल्पना न करनी पड़ेगी और न यह आनन्दोपलब्धि अनिर्वचनीय रह जायगी। यदि इसे अथवा काव्य, कथा की आनन्दोपलब्धियों को अनिर्वचनीय मान लिया जाता है तो आलोचक द्वारा उनके मर्मोद्घाटन की सत्यता कैसे प्रमाणित होगी। रहस्यदर्शन वृत्ति की प्रक्रिया के अत्यन्त निकट का पण्डितराज जी का भावनादोष व्यापार का लक्षण है, आत्मा भावनादोष के वशीभूत अज्ञान से अवच्छिन्न नहीं होती, अज्ञान से अवच्छिन्न का यथार्थ तात्पर्य है रहस्यदर्शन की गतिशीलता। दुष्यंतत्व का आरोप नहीं सत्य है,सत्य है शाश्वत भावना का दर्शन। जो अनिर्वचनीय है, अन्तर्मन की वह रहस्यवृत्ति, उसकी गतिशील प्रकृति है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस विश्वकाव्य की रसधारा का जो प्रसार देखा है, उसकी सत्ता को मनुष्य से इतर प्राणियों में एवं वनस्पति तथा अन्य प्रकृति-खण्डों में जो प्रतिष्ठापित किया है, उसका समाधान और सामञ्जस्य अन्तर्मन की रहस्यदर्शन-वृत्ति के बिना सम्भव नहीं है। मनुष्य के भावों का साधारणीकरण तो, उद्यान—कटाक्ष आदि कारणों के लौकिक धरातल को अतिक्रान्त कर विभावन-अनुभावन आदि संज्ञाओं में बदल जाने से तथा प्राक्तन संस्कार के उज्जीवन से हो जायगा किन्तु लता-गुल्म, चट्टान, नदी, अमराइयां बादल की वर्षा, कुहरे का छाना—आदि विभावन-अनुभावन की संज्ञा में न आकर भी कैसे हमारे मन को अपने में लीन कर लेते हैं? इसका उत्तर क्या है? अर्थात् केवल मानवीय वासनाओं तक ही मन का प्रसार नहीं है, प्रकृति के साथ शाश्वत सहवास की अमिट तादात्म्यता अन्तर्मन की है, क्योंकि मन के अधिष्ठान शरीर के तथा स्वयं के उसके पोषक तत्व युग-युग से इस प्रकृति से मिलते रहे हैं। अतः समर्थ अन्तर्द्रष्टा कवि की रचना प्रकृति के किसी भी अंश के दर्शन में पाठक को लीन कर सकती है। शुक्ल जी ने कुछ ऐसा ही लिखा है—

---

१. रसगंगाधर—
व्यंजनाव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लसितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना. कल्पितदुष्यन्तत्वाच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने......समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीय......रत्यादिरेव रसः।

"यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहां रहेगी? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चांदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ,........तो उसके जीवन में रह क्या गया?

"........इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना.........ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य है।"[1] और यह सारी सामर्थ्य रस के उस साधारणीकरण में नहीं है जो विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों का संयोग है, जिसकी सैद्धान्तिक व्याख्या भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यगण केवल नाट्य के रंगमंच को लक्ष्य बनाकर करते रहे हैं, काव्य का तो किसी-किसी आचार्य ने नाममात्र ले लिया है। जिस काव्य की धारा में मानव के साथ सामंजस्य रखने वाली यह अनन्तरूपा प्रकृति अनुस्यूत होगी, वहां तीन भावों के संयोग की सैद्धान्तिक रूढ़ि असत्य हो जायगी, मानव-मन बिना उस संयोग के ही अन्तर्दर्शन में अपने को तन्मय कर देगा, विलक्षण आनन्द तथा चमत्कार की अनुभूति उसे होगी और यह सब है मानव-मन के अन्तर्दर्शन की रहस्य-वृत्ति।

इसलिए 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यम्, न रावणादिवत्' की जो प्रवृत्ति निर्दिष्ट की जाती रही है वह रहस्यदर्शन के अथवा अन्तर्मन की प्रकृति के प्रतिकूल हो जायगी। जहां उपदेश की समस्या होगी वहां बुद्धि मन को अपना अनुगामी बना लेगी, पर साहित्य वह देश है जहां मनोराज्य है। डा० उपाध्याय ने दोनों तथ्यों का यथास्थान व्याख्यान किया है—"कवि का विषयीभूत पदार्थ अनुभूति या स्वप्न है, किसी चीज की अनुभूति या स्वप्न नहीं।[2]" "पुराने उपन्यासों में भी पाठक उपन्यास के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता था और उसी के द्वारा वह अपने उपन्यास से सम्बद्ध हो जाता था। राम और रावण को लेकर लिखे गये उपन्यास में वह राम का साथ देगा, रावण का नहीं। पर आज के उपन्यास में राम-रावण का प्रश्न ही नहीं उठता[3]।"

---

१. रसमीमांसा, पृ० ७-८
२. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ५९
३. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १०

यह सारा समाधान रस-व्याख्या के अतल में अज्ञात उपेक्षित पड़े रहस्यदर्शन वृत्ति का उद्‌घाटन है। इसकी सत्ता स्वीकार कर लेने के साथ रस के चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी न होने की, तात्कालिक तथा रस्यमानतैक-सार होने की बातें अप्रमाणित हो जाती हैं, यह चर्वणा और रस्यमानता आनन्द की वह स्थिति है जो रहस्यदर्शन की गतिशीलता का पाथेय है, मन को तल्लीन करने वाला गतिशील रहस्यदर्शन क्षणकालावलम्बी नहीं है। धनपाल ने जिस अशून्य (अजस्र प्रवाहित) कथारस की प्रशंसा की है[1] उसकी अभिनव संज्ञा डा० उपाध्याय का रहस्यदर्शन है। रहस्यदर्शन की उनकी मूल-व्याख्या भी कथा-उपन्यास में ही हुई है, उसका विस्तार साहित्य की अन्य विधाओं में देखा जा सकता है!

ऊपर जो आनन्द को गतिशील रहस्यदर्शन का पाथेय कहा गया उसे अप्रमाण कोटि की बात कहना सम्यक् न होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी काव्य की सिद्धावस्था तथा साधनावस्था का विभाग करते हैं तथा उन्होंने साधनावस्था की श्रेष्ठता स्वीकार की है। 'रामचरितमानस' साधनावस्था का ही काव्य है। सिद्धावस्था को आनन्दोपलब्धि अथवा रस्यमानतैकसार की व्याख्या के समानान्तर रखा जा सकता है।

इतनी व्याख्या के बाद उन प्रश्नों के उत्तर संकलित कर लेने चाहिए जो रससिद्धि के व्युत्पत्ति-चिन्तन में सामने आये थे। बहुत अंश में प्रश्नों का समाधान इस लम्बी व्याख्या में होता आया है। कुछ अवशिष्ट कथ्यों का पुनः स्पष्टीकरण दिया जा रहा है। रस-चर्वणातिरिक्त काल तथा राम-रावणादि विषयक प्रतीति योग्यता की शर्त की स्थितियां स्पष्ट की जा चुकी हैं। रहस्य-दर्शन की व्याख्या स्वीकार कर लेने पर इन प्रश्नों की सत्ता ही नहीं रह जाती है। ऐसे ही दूसरे प्रश्न हैं, जिनका समाधान उक्त व्याख्या में होता है।

दूसरा प्रश्न है कि क्या नाट्य में अनुकरण की सत्ता को तिरोहित किया जा सकता है? भरत ने लिखा है कि 'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥' अर्थात् यह नाट्य अनुकरण ही है, अनुकरण का अर्थ हुआ सत्य की नकल, असत्य व्यापार। वस्तुतः यह नकल भी सत्य की नहीं होती, वह भी असत्य या कल्पित ही है, क्योंकि अतीत के जिन चरितों का अनुकरण होता है न उनको कवि ने देखा है, न अभिनेता नट ने। सब कृत्रिम हैं। इनको

---

१. तिलकमंजरी (उपोद्‌घात) ३७
केचिद्वचसि वाच्येऽन्ये केऽप्यशून्ये कथारसे।
केचिद्गुणे प्रसादादौ धन्याः सर्वत्र केचन ॥

कृत्रिम कहकर अभिनवगुप्त ने अनुकरणात्मक रस को सिद्ध मानने वाले शंकुक के सिद्धान्त को अमान्य कर दिया है और स्वयं उन कृत्रिम व्यापारों को लौकिक धरातल से उठाकर अलौकिक अनुभूतियों में पहुंचा दिया है और उनकी इस अलौकिक अनुभूति में सहयोगी बनता है प्राचीन वासना-संस्कारों का उदय। यहां हमें तुलसीदास की चौपाई याद आती है—

कलपभेद हरिचरित सुहाये।

कल्प तथा युग के भेद से हरिचरित में विभिन्नता आती रही है। अब इस सन्दर्भ में भरत के कथन को ले लीजिए—सातों द्वीपों का अनुकरण मेरी यह नाट्यविद्या है। सातों द्वीपों के अनुकरण का अर्थ हुआ, जो भी मानसिक व्यापार, घटनाएँ, अनुभूतियां एवं अन्तर्मन के रहस्य-व्यापार किसी भी द्वीप में प्राणियों के जीवन में सम्भव हो सकते हैं, उनका अनुकरण इस नाटक में होता है। राम, दुष्यन्त आदि के मनोभाव प्रत्येक युग के सत्य हैं, वे तब भी थे आज भी हैं। अर्थात् अनुकरण सत्य का होता है, असत्य का नहीं। 'स्मृति' शब्द की व्याख्या में अभी जो बातें कही गई हैं, उनकी सार्थकता इस प्रश्न के उत्तर में भी है। अतः अनुकरण की सत्ता नाट्य में निरस्त नहीं हो सकती। शंकुक का सिद्धान्त अपने स्थान पर सही है, यदि उनकी प्रतीयमानता को रहस्यदर्शन वृत्ति का व्यापार स्वीकार कर लिया जाये। सात द्वीपों के जिन सत्यों का अनुकरण होता है, मन की रहस्य-दर्शन-क्रिया उनका साक्षात्कार करती है, साक्षात्कार में अनुकरण मनोभूमि की अवतारणा का कार्य करता है जिसपर रहस्यदर्शन के जाने-अनजाने दृश्यों का उदय सम्भव होता है। इसलिए पुराने संस्कारों के उदय-सिद्धान्त के अनुसार राम, सीता, युधिष्ठिर, द्रौपदी, वसन्तसेना, चारुदत्त आदि के विभिन्न अभिनयों में सामाजिक की भाव-चर्वणा के अनेक भिन्न व्यापारों या भिन्न क्रियाओं की विसंगति का अवसर नहीं होता, क्योंकि यह चर्वणा न होकर रहस्यदर्शन की उपलब्धि है।

अन्य प्रश्न है, अभिनवगुप्त के साधारण्यभाव का वितत व्यापार तथा उसकी स्थिति की सत्यता। यह वितत व्यापार तीन या उससे अधिक भी कार्यों का हेतु रस की चर्वणा में बनता है। जो विघ्न विशेषण परामर्श में आते हैं उनको दूर करता है। बोध को देश, काल तथा प्रमाता के बन्धन से मुक्त करता है, सामाजिक को दुष्यन्त शकुन्तला में अपनी वासना की अनुभूति देता है। इस प्रकार सारे मानसिक व्यापार साधारण्य भाव के आश्रित हैं और उसी में परिणत होते हैं। इनकी मूल प्रेरणा क्या होगी?

चर्व्यमाणता, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो तात्कालिक है, चर्वणातिरिक्त काल में उसकी सत्ता ही नहीं है। अतः यह चर्वणा भी पहले से घटने वाले व्यापारों का एक अंश है। साहित्यशास्त्र में तीन और उससे अधिक व्यापारों को घटित करने वाली शक्ति का निरूपण नहीं किया गया है, इसी परिनियम पर व्यंजना शक्ति की सत्ता स्थापित हुई है, क्योंकि लक्षणा तथा तात्पर्य शक्तियां अपने एक-एक अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाती हैं तब तीसरे अर्थ का बोध व्यंजना-शक्ति करती है। साधारण्यभाव तीन से अधिक व्यापार करता है यह परम्परागत सिद्धान्त का उल्लंघन है अतः ये तीन या चार व्यापार एक ही व्यापार के धारा-प्रवाह हैं और वह व्यापार है, डा० उपाध्याय की रहस्यदर्शन-वृत्ति-विषयक क्रिया-तत्परता। जिसके स्वीकार कर लिये जाने पर साधारण्यभाव के वितत व्यापार की कष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। रहस्यदर्शन की वृत्ति में सक्रिय अन्तर्मन विरत न होने वाले अपने चेतना-प्रवाह से अनुप्रेरित रहता है, यहां एकान्तिक सक्रियता, जो एक घन-विश्रान्ति जैसा ही विकल्प है, आवरणों को भग्न करती हुई अन्तिम गूढ़ रहस्य से मन का साक्षात्कार कराती चलती है। अविरत सक्रियता ही चेतना-प्रवाह का स्वरूप है—"चेतना अपने समस्त छोटे-मोटे टुकड़ों में कटकर उपस्थित नहीं होती, इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवाहमयी होती है। इसे हमें चेतना के विचार या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए।"

इन व्याख्याओं के पश्चात् सम्भवतः हम इस निष्कर्ष में कोई बाधा नहीं देखते कि रस-चर्वणा का सही विकल्प रहस्यदर्शन-प्रवृत्ति है। अन्तर्मन तथा मानसिक धरातल को दर्शनवादों में बहुत लपेटा न जाये तो उनकी सचाई इसी बात का पोषण करती है।

कथा-पूर्वदीप्ति, अग्रदीप्ति

चौथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न कथा की प्रतिष्ठा का है अर्थात् कथावस्तु के सम्यक् विन्यास में ही रस की संजीवनी है। रस की संजीवनी अथवा रहस्य-दर्शन का परिस्पन्दन। जिस रस की व्याख्या की जाती है, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभावों के संयोग से अधिक कथा तथा उसके घटना-व्यापार के संयोग पर निर्भर है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में इस पक्ष को बहुत महत्व नहीं दिया गया है। चर्चा हुई है, पर उस अभिनिवेश के साथ नहीं, जितना आवश्यक है। हां, मूर्धन्य कवियों ने इस कथारस का नाम लेकर रस के मूल में कथा के अनिर्वचनीय महत्व का संकेत प्रत्येक युग में किया है। गुणाढ्य, सुबन्धु, बाणभट्ट, बिल्हण, धनपाल, श्रीहर्ष अपने-अपने प्रबन्धों के

कथारस का गुणगान करते हैं। किन्तु साहित्य के व्याख्याता, जैसा कि पहले कहा गया है, नाट्य-रस की सीमा से निकल कर कथारस के अकालन की ओर प्रवृत्त नहीं हुए हैं। कथासाहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में तल्लीन डा० देवराज उपाध्याय ने कथा की उन बारीकियों को हमारे सामने रखा है जिनसे हम संस्कृत के मूर्धन्य कवियों के कथारस को भी समझने में क्षम होते हैं।

नैषधकार कवि श्रीहर्ष ने अपने प्रबन्ध की कथा और उसके कथारस का क्रम-क्रम से नाम लेकर दोनों के द्वारा अर्थात् कथा से तथा कथारस से अमृत के तिरस्कृत होने की बात कही है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथाः
तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
❀ ❀ ❀
रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी
नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः ।

दो बातें हैं- राजा की कथा पीकर बुध-जन सुधा की इच्छा नहीं करते। कथा अपने रसों से सुधा को तिरस्कृत कर देती है। अर्थात् रस न भी हो तो केवल कथा ही अपने में सुधा की-सी उपलब्धि है। अर्थात् कवि श्रीहर्ष की उक्ति के समाधान में यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कथा और रस परस्पर पर्याय हैं।

कवि इस कथा के अन्तर्दर्शन के बिना रस या रहस्यदर्शन के परिस्पन्द का अवगाहन अपनी कृति में नहीं कर सकता।

आनन्दवर्धन ने कथा-निर्वाह के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उन्होंने इन बातों का उल्लेख इस प्रसंग में किया है कि प्रबन्ध (अर्थात् कथावस्तु) भी रस-भाव का व्यंजक होता है और उसका इस दृष्टि से निबन्धन किया जाना चाहिए[1]। उनके तीन महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं—१—रस भाव आदि के औचित्य से कथा का संगठन, २—यथार्थ घटना के अनुसार आये हुए नीरस कथाप्रसंग को त्याग कर उसमें प्रसंगानुकूल अभीष्ट रस का परिपोष करने वाली अन्तर कथा का उन्नयन, ३—सन्धियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निर्वहण) और उनके अंगों का रस की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए संघटन। ये सन्धियां नाटक तथा महाकाव्य, कथा के समान रूप से रस का परिपोषक एवं प्रबन्ध का जीवन मानी जाती हैं।

---

१. द्रष्टव्य- ध्वन्यालोक ३।१०-१४ की वृत्ति।

आनन्दवर्धन के ये सामान्य सिद्धान्त हैं, इनके प्रयोगात्मक विशेष नियमों के विवेचन का विस्तार उनके ग्रन्थ में नहीं है। फिर भी दूसरे निर्देश के प्रयोगात्मक उदाहरण में तीन कवियों और दो काव्यों का नाम उन्होंने लिया है। इन कवियों ने रस के प्रतिकूल स्थिति को त्याग कर रसोन्नयन करने वाले अभीष्ट कथा-प्रसंगों की कल्पना की है। जिनमें एक कवि आनन्दवर्धन स्वयं भी हैं और उनकी रचना 'अर्जुन-चरित' महाकाव्य है। दूसरे कवि हैं सर्वसेन, जिन्होंने 'हरिविजय' काव्य लिखा था। सर्वसेन वाकाटक वंश की वत्सगुल्म शाखा के संस्थापक नरेश थे। इनका समय चौथी शती ईस्वी का मध्य है। 'हरिविजय' प्राकृतभाषा का काव्य था। तीसरे कवि ख्यातनामा कालिदास हैं, आनन्दवर्धन ने उनके प्रबन्ध के लिए बहुवचन का प्रयोग कर, 'यथा कालिदासप्रबन्धेषु,' सम्भवतः उनकी सभी रचनाओं में रसानुगुण कथान्तर की कल्पना स्वीकार की है। आज कालिदास की रचनाओं को छोड़कर 'हरिविजय' और 'अर्जुनचरित' दोनों काव्य अनुपलब्ध हैं। जहां तक हमारा ख्याल है, आनन्दवर्धन ने कालिदास के प्रबन्धों का नाम सामान्य दृष्टि से ही लिया है। उनकी दृष्टि में वे महाकवि हैं अतःजहां काव्य के श्लाघ्य वैशिष्ट्य का प्रश्न आता है, कालिदास की गिनती तो वे करेंगे ही। पर यहां उनके विशिष्ट उदाहरण 'हरिविजय' और 'अर्जुन चरित' हैं। दोनों ही काव्य लुप्त हो गये हैं। 'हरिविजय' के छन्द यत्र-तत्र लक्षणग्रन्थों में उदाहृत हुए हैं। इससे लक्षणकारों की दृष्टि में उसकी उत्तमता सिद्ध होती है, पर पाठकों की दृष्टि में नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत साहित्य में कथाशिल्प की विशेषताओं के प्रति कृतिकार तथा पाठक दोनों उदासीन थे। यदि यह उदासीनता न होती तो ये काव्य अनेक प्रतियों में लिखे गये होते, लुप्त न रहते। कालिदास से लेकर आनन्दवर्धन तक लगभग आठ सौ वर्षों की लम्बी अवधि में लक्षणकार की दृष्टि में कथाशिल्प के विशिष्ट शिल्पी तीन कवि हैं।

रसानुगुण स्थिति बनाने के लिए इन कवियों ने जो कल्पनाएं की होंगी, उसका कुछ संकेत अभिनवगुप्त की लोचन टीका में मिलता है। उन्होंने उदाहरण दिया है—जैसे 'रघुवंश' में अज आदि राजाओं का विवाह-वर्णन, 'हरिविजय' में कान्ता की प्रार्थना पर स्वर्ग से पारिजात का हरण तथा 'अर्जुनचरित' में पाताल-विजय का वर्णन जो सभी इतिहास में अप्रसिद्ध हैं।

आनन्दवर्धन ने कथा के शिल्प के प्रति जो यह अभिनिवेश प्रकट किया, जिस शास्त्रीय एवं कवि-धर्म की दृष्टियों का सामञ्जस्य उनके इस निरूपण में मिलता है, आगे चलकर कथाशिल्प के ऐसे चिन्तन के प्रति

सूक्ष्मदृष्टि और आदर नहीं दिखायी पड़ता । अस्तु, आनन्दवर्धन ने कथान्तर की कल्पना को रसानुगुणत्व का जनक स्वीकार किया है, दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी कह सकते है कि कथा का विन्यास काव्य, कथा या नाटक का प्राण है ।

हिन्दी में भी कथा के नये प्रयोग हुए हैं । उनकी ओर कृतिकारों का अभिनिवेश रहा है । पर आलोचक की दृष्टि में उनकी व्याख्या उपेक्षित रही है । डा० उपाध्याय ने कथा–शिल्प के सूक्ष्म विश्लेषण के प्रति अपनी रुचि दिखायी है और नई मान्यता को जन्म दिया है । यद्यपि उनको अपनी इस मान्यता का स्रोत पाश्चात्य साहित्य से मिला है तो भी उनका इस विषय का चिन्तन मौलिक है और व्याख्याओं में उनकी स्वतन्त्र दृष्टि है । कथा विन्यास के उनके ये दो पक्ष हैं—१–पूर्वदीप्ति पद्धति, २–अग्रदीप्ति पद्धति । पूर्वदीप्ति का अर्थ हुआ–कथा जहां से समाप्त हो रही हैं वहां से उसका आरम्भ किया जाये और पूर्व की घटनाएं पात्रों की स्मृति का विद्योतन करती हुई अन्तर्मन की गहन हलचल के साथ अवतरित हों । इससे अपने-आप कथा की महाप्राणता प्रतिष्ठित हो जायगी । 'पूर्वदीप्ति' में घटनाओं के अतीत का क्रमिक वर्णन नहीं रहता । परन्तु वे पात्रों की स्मृति से अतीत के अन्धकार को प्रदीप्त करती चलती हैं । अतः उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता बढ़ जाती है ।'[1]

एक तरह से पूर्वदीप्ति पद्धति अतीत को प्रस्तुत करने का वह चमत्कारिक ढंग है जो हमको गूढ़ रहस्यों के साथ अनिर्वचनीय आनन्द में तन्मय कर देता है । अतीत में वैसे ही एक आकर्षण होता है—'प्राचीन कवियों के काव्य में यह अतीतत्व ही एक अतिरिक्त सौन्दर्यमूलक तत्व के रूप में अवस्थित होकर रह गया है । अतः उसके प्रति लोगों के हृदय में आकर्षण के भाव हैं । ...... वर्तमान की ओर से कोई अतिरिक्त सौन्दर्यमूलकता प्राप्त नहीं होती अथवा मिलती भी है तो उस मात्रा में नहीं जो प्राचीन कवि के अतीत की ओर से मिलती है ।'[2] अतीत की इस सौन्दर्यसिद्धि को पूर्वदीप्ति पद्धति के शिल्प में अपूर्व क्षमता प्राप्त हो जाती है । उपाध्यायजी लिखते हैं–'यह देख लें कि पूर्वदीप्ति पद्धति क्या है ? एक तरह से इसे हम कथा का अन्तःप्रयाण कह सकते हैं । कथा का अन्तः प्रयाण यह वाक्यांश आज के उपन्यास के आलोचकों के लिए परिचित है । वे जानते हैं कि आजकल के उपन्यास मनुष्य के जीवन का बहिःप्रयाण नहीं करते अर्थात् वे बाहरी क्रिया-कलापों को महत्त्व नहीं देते । मनुष्य को

---

१. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ९११
२. डा० रांगेय राघव उपन्यास, 'मेरी मान्यताएँ' पृ० १०७–१०८

आन्तरिक प्रेरणाओं को ही अपनी प्रतिभा–किरणों से उद्‌भासित करने का प्रयत्न करते हैं। यह तो आधुनिक उपन्यास की प्रवृत्तियों के सैद्धांतिक स्तर की बात हुई। परन्तु हम जो पूर्वदीप्ति की बात कर रहे हैं वह व्यावहारिक स्तर की वस्तु है। इसमें कथा आगे की ओर न देखकर पीछे की ओर देखती है। आंखें खोलकर नहीं, परन्तु आंखें मून्दकर उन स्मृतियों को अपनी कल्पना के सामने लाती है जो चर्मचक्षुओं की शक्ति से संकलित नहीं किये जा सकते। कल्पना कीजिए कि उपन्यासकार अपनी कथा को लेकर बहुत आगे बढ़ गया है और उसको ऐसी घटना को उपस्थित करने की आवश्यकता आ पड़ी जो कथा–व्यापार के प्रारम्भ होने के पहले ही घटित हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में वह इस घटना को Flash back पूर्वदीप्ति पद्धति से उपस्थित करेगा और ये घटनाएं वर्णनात्मक या वार्तालापात्मक न होकर दृश्यों में उपस्थित होंगी। पूरा उपन्यास पूर्वदीप्ति पद्धति में लिखा जा सकता है अथवा यह भी हो सकता है कि पूरे उपन्यास का ढांचा तो Chronological ही हो परन्तु उसी के बीच में थोड़ा सा Flash back भी करने की आवश्यकता आ गई हो।...... मेरा अपना ख्याल है, यदि मनोविश्लेषण की पुस्तक को अपने Pocket में रखकर उपन्यास का निर्माण करना है तो उसके लिए पूर्वदीप्ति पद्धति एक अपूर्व साधन है। साध्य के अनुरूप ही साधन होना चाहिए। यदि मनोविश्लेषण मनुष्य के अन्तस् में बैठने की कोशिश करता है तो कथा क्यों न पीछे मुड़कर अतीत की ओर देखे। अतीत का अर्थ वह वस्तु जो हमसे ओझल है और हमारी आंखों के सामने नहीं, परन्तु आंखों के पीछे है।"[1]

मनोविश्लेषण को मनुष्य के अन्तस् में बैठने की ही बात नहीं है, न केवल घटनाओं के दृश्यों में उपस्थित होने मात्र की उपलब्धि है, वरंच पूर्वदीप्ति का यह सिद्धांत बहुत व्यापक है, यह लघु धरातल पर भी है, विराट् धरातल पर भी। आनन्दवर्धन तथा मम्मट के लक्षण ग्रन्थों में व्यंजना एवं रसचर्वणा के कितने उदाहरणों का जीवन इसी पूर्वदीप्ति के शिल्प पर अनुप्राणित है, पूर्वदीप्ति की घटनाओं का सही आकलन किये बिना उनका भावबोध ही स्पष्ट नहीं हो सकता। ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश में समान आदर से उद्धृत विधि में प्रतिषेध क्रिया को चरितार्थ करने वाली गाथा, जिसका अर्थ-बोध महिम भट्ट को अनुमिति से इष्ट है तथा दूसरों को व्यंजना-शक्ति से, पूर्वदीप्ति शिल्प में ही किस प्रकार इन समस्त वैशिष्ट्यों को समेटे हुए है, थोड़ा इस पर ध्यान दीजिए—

---

1. डा० रांगेय राघव। उपन्यास। 'मेरी मान्यताएं' पृ० ९४-९५

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइ कच्छ कुडंगवासिणा दरिअ सीहेण॥

अर्थात् नायिका कहती है—धार्मिक ! विश्वस्त होकर निकुंजों की ओर विचरण किया कीजिए। जानते हैं न ! वह कुत्ता जो आपको भौं-भौं कर डराता था, उसको अब गोदावरी नदी के कछार के कुंज में रहने वाले उद्धत सिंह ने मार डाला। यहां इस पूर्व अर्थ की दीप्ति हो रही है कि धार्मिक निकुंजों की ओर फूल आदि चयन करने जाता था, निकुंज नायिका के मिलन-स्थान थे, धार्मिक के जाने से उसको अपने मिलन में बाधा पहुंचती थी, वहां एक कुत्ता रहता था, जो धार्मिक को भूंका करता था, धार्मिक को उससे भय लगता था। नायिका ने प्रकट में धार्मिक के हित की बात की, जो कुत्ता आपको भूंकता था, उसे सिंह ने मार डाला। सिंह जो अब गोदावरी के कछार में आकर रहने लगा है। धार्मिक के अन्तस्तल में कुत्ते का भूंकना झांकने लगता है, पर कुत्ते को मारने वाला सिंह है, जो उससे भी अधिक घातक है। अतः कुत्ते के रहने पर तो उसका जाना सम्भव भी था पर अब सिंह के आ जाने से उसमें कदापि वहां जाने की हिम्मत न होगी। नायिका के अन्तस्तल में अब उसके वे मिलन-स्थान बिल्कुल निरवच्छिन्न सुनसान होकर सुखदायक प्रतीत होने लगे हैं, जो धार्मिक के पद-चाप से सदा खटके में रहते थे।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा ! हा देवि ! धीरा भव॥

सीता रावण की लंका में बन्दिनी है, राम प्रस्रवण गिरि पर लक्ष्मण के साथ हैं। वर्षा ऋतु आ गई है। सीता के विरह में राम अपने दुःख से अधिक सीता की दुश्चिन्ता कर रहे हैं—'बादलों की चिकनी श्यामल कान्ति ने आकाश का एक छोर से दूसरे छोर तक लेपन कर दिया है, बादलों के बीच में काम से उत्पन्न जँभुआई लेती हुई बगुलों की कतार उड़ रही है। वर्षा के जलकणों से भरी हवाएं चल रही हैं, बादलों के संगी मोरों की केकाध्वनि की कला चारों ओर ध्वनित हो रही है—ठीक है, ये सभी जी भर कर अपना विस्तार कर लें (और प्रिया से विहीन मुझको इस कामोद्दीपन वेला में तरसाते रहें) कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मैं दृढ़ कठोर-हृदय राम हूं, सभी कुछ सह

सकता हूँ, किन्तु वर्षा की इस घनी वेला में मेरे बिना सीता अपने को कैसे सचेत रखेगी (असम्भव है) यही बात मुझे व्याकुल कर रही है, हाय देवी ! किसी प्रकार धैर्य रखो।' इस छन्द में 'रामोऽस्मि सर्वं सहे', में राम हूं, सब कुछ सह सकता हूँ—वाक्य का 'राम' पद व्यंग्य से अन्य धर्म में परिणत होकर अनेक अर्थबोधों (संज्ञाओं) को धारण करता है न कि केवल एक अर्थ को। संज्ञी प्रत्यायते, न सञ्ज्ञिमात्रम्।' वे सभी अर्थ पूर्वदीप्ति के शिल्प में हमारे हृदय में उतरते हैं, हमारे उस हृदय में जो कि राम के जीवन की इसके पूर्व की घटनाओं से परिचित है। मैं कठोर-हृदय राम हूं जिसने युवराजपद पर अभिषेक की वेला में वन की यात्रा की, माता के स्नेह को त्यागा, मूर्च्छित पिता की चिन्ता न की, उनकी मृत्यु का दुःख उठाया, भरत के अनुराग पर भी न पसीजा-आदि आदि, इस प्रकार राम शब्द कौशल्यानन्दन, दशरथकुलावंतस आदि बोधों से भिन्न-धर्म में परिणित होकर व्यंग्य से अनेक अर्थों को प्रस्तुत करता है तथा यह प्रयोग अर्थान्तिर-संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है। अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि की जो बोध क्रिया इस छन्द में हो रही है, वह सारी की सारी पूर्वदीप्ति-शिल्प में निहित है। प्रबन्ध रचनाओं के अतिरिक्त मुक्तकों का समस्त अर्थबोध पूर्वदीप्ति पद्धति पर होता है। गाथा सप्तशती, अमरुकशतक, बिहारी सतसई जैसी कोई भी समर्थ रचना उठा लें, इस शिल्प के बिना उसका जीवन नहीं है, अधिकांश में पूर्वदीप्ति का शिल्प है, शेष अग्रदीप्ति का (जिसका निरूपण आगे हो रहा है)। वर्तमानकालिक नाटकीय शिल्प का घटना-व्यापार कम ही होता है, क्योंकि परोक्ष में, वह अतीत हो या भविष्य, हृदय को आन्दोलित करने की शक्ति तीव्र हो जाती है।

हिन्दी के मुक्तकों में यह शिल्प-विधान प्रचुर मात्रा में तो प्रयुक्त हुआ ही है, प्रबन्ध रचनाओं में भी इसके हृदय-परिस्पन्दी प्रयोग पाये जाते हैं। 'रामचरितमानस' में परशुराम के वीर-दर्प को अभिव्यक्त करने वाली निम्न उक्ति उनके पूर्व पराक्रम के स्मरण से अनुप्राणित हुई है, पूर्व पराक्रम का स्मरण-पूर्वदीप्ति शिल्प का विधान—

निपटहि द्विज करि जानहि मोही।
मैं जस विप्र सुनावौं तोही॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू।
कोपु मोर अति घोर कृसानू॥
समिध सेन चतुरंग सुहाई।
महामहीप भये पसु आई॥

मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे ।
समर जग्य जग कोटिन्ह कीन्हे ॥

मैं जैसा ब्राह्मण हूं—परशुराम ने अपना परिचय दिया। उस अकेले वीर ने उद्दण्ड क्षत्रियों की बलि का यज्ञ किया था। उनका उस काल में यह स्मरण क्षत्रियों के उस विराट् सम्मेलन में क्षत्रियों के हृदय को प्रत्यभिज्ञा में चोखे तीर तथा परशु की तेज धार से आतंकित कर रहा था।

आधुनिक कवियों ने भी इस शिल्प से कविता के बोध को जहां-तहां बहुत तीव्र किया है, श्यामनारायण पांडेय की इस उक्ति को देखिए—

नहीं देखते सतियों के जलने का है अंगार कहां ?
राजपूत तेरे हाथों में है नंगी तलवार कहां ?
कहां पद्मिनी का पराग है शिर से उसे लगा लें हम,
रत्नसिंह का क्रोध कहां है गात-रक्त गरमा लें हम।

'चित्तौड़' शीर्षक इस कविता में पूर्व की घटनाओं की यह दीप्ति उसके ज्वलन्त इतिहास को हमारी आंखों के सामने खड़ा कर विभोर कर देती है।

डा० उपाध्याय ने इस शिल्प का निरूपण कर इतिहास के पन्ने उलट दिये हैं, यह शिल्प केवल कथा—साहित्य—उपन्यास का ही प्राण नहीं है, जहां भी प्रबन्ध है वहां यह शिल्प अपनी सफलताएं प्रकट कर देता है, रचना में प्राण फूंक देता है। प्रबन्ध के स्तर पर संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में इस शिल्प का प्रयोग हुआ है। संस्कृत का 'वेणीसंहार नाटक' महाभारत के कथानक पर आधारित है, कथानक वहां आरम्भ होता है जहां महाभारत के युद्ध की दुन्दुभी बज जाती है, पर महाभारत की समस्त कथा-भूमि पूर्वदीप्ति के शिल्प में चलचित्र-सी नाटक में घूम जाती है। हिन्दी में इस शिल्प का सफल प्रयोग नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई नाटकों में तथा सर्वाधिक चामत्कारिक प्रयोग उनके काव्य-प्रबन्ध 'सेनापति कर्ण' में हुआ है। 'सेनापति कर्ण' का कथानक द्रोण के मृत्यु-दिन की सन्ध्या से शुरू होता है। महाभारत का युद्ध तेरह दिन बीत चुका है, वे अन्तिम दिन शेष हैं, जिनमें कौरवपक्ष की सम्पूर्ण पराजय होने वाली है। कवि ने पूर्वदीप्ति पद्धति पर कथानक का ऐसा विस्तार किया है कि महाभारत की अनेक वर्षों की कथा के सभी प्राण-दायक तत्त्व उसमें समाहित हो [illegible] काव्य की प्रत्येक दो पंक्ति पूर्वदीप्ति के शिल्प में ढाली हुई है। [illegible] हिन्दी के आलोचना [illegible] में साहित्य की विधा को प्रभावित करने वाली यह रचना-विधान अनालोचित ही पड़ा था।

'सेनापति कर्ण' का एक प्रसंग देखिए, कौरव पक्ष का निश्चय हो गया है- सबेरे कर्ण को सेनापति पद पर अभिषिक्त किया जायगा, शरशय्या पर पड़े भीष्म से आशीर्वाद लेने हेतु कर्ण रात्रि में उनके समीप जाता है, जब तक भीष्म सेनापति रहे, उसने उनके विरोध में युद्ध में भाग नहीं लिया था, क्योंकि भीष्म ने उसको अर्धरथी कहा था, अब जो सेनापति का भार उसे मिल रहा है, पितामह की आज्ञा बिना इसे वहन करने में वह अच्छाई नहीं समझता, कर्ण जैसा समर्थ वीर महाभारत का अभागा चरित है, यदि वह भाग्यवान् होता तो महाभारत के महासमर का दुर्दिन न उपस्थित होता। वह पितामह के पास पहुंचता है वहां उसकी रहस्यमयी माता कुन्ती पहले से पहुंची हुई है। कुन्ती पितामह से प्रार्थना करने आई थी कि कल अर्जुन और कर्ण का निर्णायक समर होगा। और यह रहस्य की बात है कि कर्ण भी मेरा पुत्र है, यदि पितामह चाहें तो यह युद्ध टल सकता है, कर्ण पितामह की आज्ञा नहीं टालेगा, किसी भी पुत्र का नाश माता को सहन नहीं है, कर्ण कुन्ती की सारी बातें सुनता हुआ अप्रकट खड़ा रहा और जब उसकी वह माता अपने प्रयत्न में निराश हो गई तब उसने अपने को प्रकट किया और जो उत्तर दिया वह महाभारत की मर्मवाणी है, कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं, जिनमें पूर्वदीप्ति पद्धति का शिल्प ही चमत्काराधायक हो गया है—

> कहती हो जन्म तुमने था दया मुझको
> पुण्यमयी, पद में तुम्हारे हूं प्रणत मैं
> जननीमय मुझको मिला जो यह लोक है
> केवल प्रसाद से तुम्हारे भगवति हे !
> किन्तु अब रोको निज वाणी, यह पुत्र जो
> सामने खड़ा है एकमात्र सुत राधा का
> जानो इसे। राधा-सुत लोक कहता है जो
> कुल-बल-विहीन पुरुषार्थ का सहारा है
> मेरे लिए उसमें भी, किन्तु पुत्र कुन्ती का
> बनकर गिरूंगा पुरुषार्थ से भी जननि !
> कुल तो मिलेगा नहीं जानती हो तुम भी ॥
> अशुभ रहा है यह लोक शुभे ! बल दो
> जिससे कि पाऊं वह लोक शुभकारी मैं।

इस प्रसंग में जननीमय, कुल-बलहीन, पुरुषार्थ का सहारा, कुल तो मिलेगा नहीं, अशुभ रहा है यह लोक— ये सभी कथन अतीत की उन घटनाओं को

कुन्ती तथा पितामह के सामने दृश्य की तरह नचा देते हैं, जिनमें कुल-हीन होने से कर्ण का अपमान हुआ है, जैसे रंगभूमि में कुमारों का प्रदर्शन, द्रौपदी का स्वयम्बर आदि। और उसके फलस्वरूप कर्ण पर कुरुपति सुयोधन की कृपा बढ़ती गयी है तथा दूसरी ओर पाण्डवों-कौरवों की द्वेषाग्नि बढ़ती गई है, जिसने आज इस महासमर का रूप धारण कर लिया है। कर्ण की यह उक्ति महासमर की भूमि में भीष्म की शरशय्या के पास प्रकट हुई है, भीष्म तथा कुन्ती कुरुकुल के दो श्रेष्ठ जन वहां विद्यमान हैं, इन स्थितियों के कारण यहां पूर्वदीप्ति की क्षमता अधिक बढ़ जाती है।

पूर्वदीप्ति पद्धति की ही तरह अग्रदीप्ति पद्धति है— भावी घटना-चक्रों का वर्तमान स्तर पर मानसिक सम्पृक्तता के साथ प्रस्तुत किया जाना। घटनाओं के प्रस्तुतीकरण के इस शिल्प का आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में अभी आरम्भ ही हो रहा है, इसको मानते हुए डा० उपाध्याय ने अग्रदीप्ति पद्धति का परिचय दिया है—"मैं अभी उपन्यास में Flash back की चर्चा करता आ रहा हूं। न जाने किस टेढ़े-मेढ़े रास्ते से बात आ गई 'वाणभट्ट की आत्मकथा' पर। "वाणभट्ट की आत्मकथा' तक बात आई तो 'चारुचन्द्र लेख' तक फिसल जाने में क्या देर लगती है। आप ध्यान से इन दोनों उपन्यासों को पढ़ें। उपन्यास के क्षेत्र में एक नई पद्धति की नींव पड़ रही है जान में अनजान में। "चारुचन्द्र लेख' के लेखक को भी यह बात मालूम न हो। यहां पर भी उपन्यासकार में Flash करने की प्रवृत्ति है। पर यह Flash back नहीं, पूर्वदीप्ति नहीं। यह Flash forward अग्रदीप्ति है। Flash back में अतीत घटनाएँ वर्तमानस्तर पर आ जाती हैं, अतीत वर्तमान बनता है, पर Flash forward में आगे होने वाली भविष्य की घटनाएँ सामने आ जाती हैं। जरा सा ध्यानमग्न होते ही अथवा स्वप्न में होते ही पाठक आगे होने वाली घटना देखने लगता है और उपन्यास के स्वरूप-विधान में इसका सक्रिय सहयोग होता है।[1]

डा० उपाध्याय का पूर्वदीप्ति– अग्रदीप्ति विषयक यह विवेचन जब मैंने पहली बार पढ़ा था तब उसी समय में मेरे मस्तिष्क में भारतीय नाट्य-रचना में कथावस्तु-विन्यास की शास्त्रीय रूपरेखा उतर आई थी। उस शास्त्रीय रूपरेखा की कार्यावस्थाएं, अर्थप्रकृतियां, सन्धियां तथा अर्थोपक्षेपक मुझे इस दीप्ति शिल्प में अधिक सुबोध अवगत हुए। पूर्वदीप्ति और अग्रदीप्ति का क्रमानुक्रम धूपछांही विन्यास ही जैसे नाटकीय प्रबन्ध के उक्त भेदोपभेद हैं।

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : 'मेरी मान्यताएं' पृ० ११०-११३

दीप्ति का अर्थ हुआ– वर्तमान-स्तरीय क्रिया-विधान या चित्रण। वर्तमान का यह क्रियाकारित्व अवर्तमान में अर्थात् अतीत और भविष्य में ही चमत्कार पैदा करता है। वर्तमान में वर्तमान का क्रियाकारित्व क्या होगा? यहां तो रहस्य के प्रति उन्मुखीकरण ही चमत्कार का जनक बन जाता है। वर्तमान-स्तरीय क्रिया का ही प्रकारान्तर नाटकीयता है। डा० उपाध्याय ने अन्यत्र वर्तमानस्तरीय क्रिया और नाटक को परस्पर अत्यन्त सम्पृक्त बताया है– "वर्तमानस्तर पर होने वाली क्रिया में नाटक की एकाग्रता, संक्षिप्तता तथा द्रुतगामिता होगी।" 'एक विशेष प्रकार के उपन्यासों में कथा वर्तमानस्तरीय या नाटकीय होती है।' 'दूसरे शब्दों में कहें कि उपन्यास रहते तो उपन्यास ही हैं पर इनमें नाटक बन जाने की अदम्य प्रेरणा है। यदि ये नाटक नहीं बन जाते तो इसका यही कारण है कि इन उपन्यासों में अतीतस्तरीय क्रियाएं भी हैं जो उन्हें पूर्णरूप से नाटक नहीं होने देतीं।' सब का निचोड़ यह है कि कथा का वर्तमानस्तरीय विधान ही नाटक है। और कथा या तो अतीत होगी या भवितव्य। वर्तमान में कथा का अस्तित्व होगा नहीं। तब कथा का यह वर्तमानस्तरीय विधान ही नाटक में अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदि के नाम-भेदों के विकल्प में व्याख्यात होता है– इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें ननु-नच नहीं करना चाहिए। और इन नाम-भेदों के दो ही स्रोत हैं– बीती हुई कथा (अतीत) को प्रस्तुत करना या आगे होने वाली घटना (भविष्य) को दिखाना। इन दो स्रोतों के ही अनेक प्रवाह हैं। अतः अनेक प्रवाहों के मूल उद्गम की संगति पूर्वदीप्ति एवं अग्रदीप्ति शिल्प में प्रत्यक्ष होती है। कार्यावस्थाओं के परीक्षण से इस स्थापना की सत्यता सिद्ध हो जाती है। कार्यावस्था को इसलिए लिया जा रहा है कि नाट्यशिल्प में यह सर्वाधिक सूक्ष्म संयोजन होता है। अर्थप्रकृति, सन्धि तथा अर्थोपक्षेपक में तो पूर्वदीप्ति एवं अग्रदीप्ति की सत्ता बहुत ही स्पष्ट है।

कार्य की पांच अवस्थाएं नाटकीय कथावस्तु का सर्वाधिक वैज्ञानिक पक्ष है। कार्य अर्थात् नाटक का लक्ष्य या फल, जिसकी परिणति में ही नाटक चमत्कृत होता है। कार्य की अवस्थाओं का पूरी कथावस्तु में सम्यक् विन्यास नाटककार की भावविज्ञता, रंगमंच की अभिनय-दृष्टि और कथा के अपेक्षित अनपेक्षित तत्त्व के विवेक की खरी कसौटी है। नाटक के फल की सिद्धि के लिए प्रवहमान कथा की गतिशीलता ही अवस्था है। यह अवस्था या गतिशीलता पूर्वदीप्ति और अग्रदीप्ति के सामञ्जस्य पर निर्भर होती है। कार्य की पांच अवस्थाएं अपने लक्षण में इस सामञ्जस्य का प्रमाण देती हैं। पहले इनका परिचय देखिए—

१. आरम्भ– जहां फलप्राप्ति के लिए पहली उत्सुकता दिखायी पड़े।

२. प्रयत्न– जहां कार्य को सिद्ध होता न देखकर उसके लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाय।

३. प्राप्त्याशा– उपाय और विघ्न दोनों की स्थिति की अवस्था, जब दोनों की खींचातानी में फलप्राप्ति का निश्चय न किया जा सके।

४. नियताप्ति– जहां फलप्राप्ति का पूर्ण निश्चय हो जाय।

५. फलागम– पूर्ण रूप से उद्देश्य की प्राप्ति।

इनके लक्षणों में अग्रसरित होने वाली कथा के ही प्रति संकेत निहित है, जिसे प्रकारान्तर से अग्रदीप्ति कहा जायगा। नाटक की कथा पहले अग्रदीप्ति के शिल्प में आगे बढ़ती है, यही उसका स्वाभाविक पक्ष है। भावी कथावस्तु– कार्य की आरम्भ तथा प्रयत्न अवस्थाएं अग्रदीप्ति शिल्प में रहती है, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम में अग्रदीप्ति के साथ पूर्वदीप्ति का आभास होता चलता है, और यह पूर्वदीप्ति आभासमात्र इसलिए होती है कि अधिकतर वह आरम्भ तथा प्रयत्न– अवस्था के अतीत की ही पूर्वदीप्ति रहती है। नाटक के आरम्भ में पूर्वदीप्ति का संयोजन उसकी कलात्मकता तथा प्रभविष्णुता को कम कर देता है, इस दृष्टि से संस्कृत के स्वप्नवासवदत्त, अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस तथा उत्तररामचरित की परस्पर तुलना की जाने पर तथ्य स्पष्ट हो जाता है। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में चित्रपट द्वारा रामकथा की पूर्वदीप्ति की गयी है। शेष तीन नाटकों में कथा अग्रदीप्ति पद्धति पर अवतरित होती है। अतः उत्तररामचरित का कलात्मक पक्ष उतना प्रदीप्त नहीं है, जितना स्वप्नवासवदत्त, अभिज्ञानशाकुन्तल और मुद्राराक्षस का। करुण भाव की जितनी भी गहन अभिव्यक्ति उसमें हो, उसका अभिनय पक्ष अन्य नाटकों की अपेक्षा दुर्बल है।

इस दृष्टि से यदि हम सूक्ष्म विचार करें तो नाटक की कसौटी अग्रदीप्ति तथा पूर्वदीप्ति की व्यवस्थित योजना का लेखा-जोखा ही है। और हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में इसे अवतरित करने का श्रेय डा० उपाध्याय को है।

रस या रहस्यदर्शन, अग्रदीप्ति तथा पूर्वदीप्ति– सभी का मूल केन्द्र कथा है। कथा अर्थात् घटना। घटना के बिना केवल कल्पना का आचरण हृदय में बैठता नहीं, ऊपर की सतह को छूकर उड़ जाता है। संस्कृत से ही दो उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त कर देते हैं। मम्मट के काव्यप्रकाश में वीररस का यह उदाहरण दिया गया है—

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किंचिद् भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि॥

युद्धभूमि में रावण के पुत्र मेघनाद की यह उक्ति है– ऐ ओछे वानरो! भय छोड़ दो, मेरे ये बाण, जिन्होंने इन्द्र के हाथी के कपोलों को छेद दिया है, तुम्हारे शरीरों को घायल करने में लज्जा अनुभव करते हैं (अर्थात् तुम पर मैं बाण नहीं सन्धान करूंगा)। सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण! रुको, (युद्ध के लिए न बढ़ो) तुम भी मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो, अरे मैं मेघनाद हूं, मैं युद्ध के लिए उस राम को खोज रहा हूं जिसने अपनी भौहों की भंगिमा-लीला से समुद्र को बांध लिया है।

'हनुमन्नाटक' के इस वर्णन में सम्भवतः कवि का यह अभिप्राय है कि मेघनाद के भीषण युद्ध से भगदड़ मच गई है, वानर भागने लगे हैं लक्ष्मण ने मेघनाद को रोकने का प्रयास किया है, तब वह उनका पीछा न कर स्वाभिमान में अपनी यह उक्ति कहता है। छन्द में केवल मेघनाद की उक्ति है उसने किस प्रकार वानरों को भागने के लिए बाध्य कर दिया, लक्ष्मण भी उनको साहस न दे सके—इस प्रसंग की किसी मूर्त घटना का संकेत छन्द में नहीं मिलता। यथाकथञ्चित् हम केवल यही समझ सकते हैं कि मेघनाद से सारी राम सेना पराजित हो गई और उसे केवल अब राम को पराजित करना शेष है। उक्ति को पढ़कर हमारा हृदय केवल शाबाश मेघनाद! की प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा, यहां ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो मूर्त बनकर हृदय में बैठ जाए और हृदय उसके दर्शन में बेसुध हो जाए।

युद्धभूमि का एक दूसरा वर्णन लीजिए। यह छन्द प्रवरसेन के सेतुबन्ध काव्य का है। यहां भी राम—रावण की सेनाओं का युद्ध हो रहा है—

भिज्जई उरो ण हिअअं गिरिणा भज्जइ रहो ण उण उच्छाहो।
छिज्जन्ति सिरणिहाआ तुंगा ण उण रणदोहला सुहडाणम्॥

कवि कहता है कि 'रण स्थल में वीरों की छाती का भेदन हो रहा है पर उनके हृदय (के उत्साह) का नहीं, पहाड़ की चट्टानों के प्रहार से वीरों के रथ टूट रहे हैं, किन्तु उनका उत्साह नहीं भंग होता। सुभटों के सिर काटे जा रहे हैं लेकिन उनकी युद्ध की अभिलाषा नहीं काटी जा सकती। अर्थात् युद्ध की

अभिलाषा रखे हुए ही योद्धा खेत हो रहे हैं।' इस वर्णन में कवि तीन घटनाओं का उल्लेख करता है—वीरों की छाती पर प्रहार हो रहा है, रथ तोड़े जा रहे हैं और सुभटों का सिर कट रहा है। इनके साथ वीरों के अन्तर्मन की प्रतिक्रिया संयुक्त होती है—हृदय युद्ध के लिए अटल है, उत्साह बढ़ रहा है और मन में युद्ध की अभिलाषा रखकर ही वीर प्राण छोड़ रहे हैं। अतः इस प्रसंग में हृदय को स्थिर होने के लिए धरातल का आधार है, साहित्य के शिल्प में यह आधार घटनाओं से निर्मित होता है। केवल कल्पना के आकाश से नहीं। और इसमें संदेह नहीं कि हनुमन्नाटक के युद्ध-वर्णन से सेतुबन्ध का यह युद्धचित्र अधिक प्रभावकारी है।

कथा की चर्चा में डा० उपाध्याय की दो बातें याद आती हैं—

उपन्यासकार नहीं, स्वयं उसकी रचना बोलती है। नहीं बोलती है, तो उसे बोलना चाहिए।[1] उपन्यास का महत्व कथामात्र के जटिल जाल में नहीं अपितु उन दिव्य दृश्यों के सृजन में है जो इस जाल की जटिलता में स्थित मालुम पड़ते हैं। जाल के अन्दर मकड़ी की भी स्थिति है और कीड़े की भी पर दोनों की स्थिति में महान अन्तर है। मकड़ी स्वतन्त्र है कीड़ा परतंत्र जाला मकड़ी की अभिव्यक्ति है उसके अन्दर से ही प्रसूत है उसके ही अपने स्वरूप का विकास है वास्तव में ऐसा मालुम पड़ता है कि मकड़ी ने स्वयं अपने को स्वतन्त्र करने के लिए जाला प्रसार लिया है जिसके बिना वह फुल ही नहीं सकती थी। पर कीड़े के लिए वही जाल प्राणान्तक बन्धन बन जाता है उसे मार डालता है। हम आज के उपन्सासों में इसी तरह के स्वतन्त्र तथा दिव्य दृश्य देखने के अभिलाषी हैं।[2]

यहां यह भी समझ रखना चाहिये कि कथा कथा है, चाहे वह उपन्यास में हो, अथवा नाटक में। अतः उसके निरूपण की प्रक्रिया एक है। दिव्य दृश्य का अर्थ है कथा के प्राणभूत घटना चक्र। कल्पनाएँ केवल जाल हैं उसमें हृदय के भीतर प्रवेश करने की क्षमता नहीं होती। दूसरी बात यह कि उपन्यासकार नहीं उसकी रचना बोलती है और उस रचना की वैखरी स्थिति उसमें चित्रित घटनायें हैं। इस सिद्धांत का पर्याय उपाध्याय जी का दूसरा कथन भी है—'**मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पात्रों के सिवा दूसरी ओर देखने का अवसर ही नहीं है।**'[3] **पात्र अर्थात् घटना।** अतः साहित्य के शिल्प में घटना का अत्यधिक महत्व है।

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : मेरी मान्यतायें, पृ० ८८
२. " " "
३. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन पृ० १३

पूर्वदीप्ति तथा अग्रदीप्ति घटनाओं के दो छोर हैं। जिनमें कथा भंगिमा के साथ समग्र रूप में नहीं केवल किसी आकर्षक अंश के साथ प्रकट होती है—**अल्पाल्पभासं विद्युदुन्मेषदृष्टिम्**। साहित्य में जब तक आन्तरिक दृष्टि की स्थापना न होगी तब तक सहृदय पाठक को रमाने के लिए शक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। यह आन्तरिक दृष्टि घटनाचक्रों के संयोग के बिना पलक नहीं उघारती। आंतरिक दृष्टि अर्थात् घटनाचक्रों का मनोवैज्ञानिक आयोजन। इस आयोजन के प्रति आज का साहित्यकार विशेष अभिनिवेश के साथ उन्मुख है पर श्रेष्ठ साहित्यकार कभी इस अभिनिवेश से बिलकुल शून्य नहीं रहे हैं। डा० उपाध्याय इसी आयोजन के कारण जैनेन्द्र के कथासाहित्य की अद्वितीयता स्वीकार करते है—**यदि कथा में आन्तरिक दृष्टि की स्थापना करना, पात्रों के मानस की गहराई में चलती रहने वाली तरंग का सच्चा चित्र उपस्थित करना मनोवैज्ञानिक कथाकार का मापदण्ड है तो जैनेन्द्र की कहानियां कहीं-कहीं तो अद्वितीय हो उठी है।**[1]

कथा (घटना) के इस महत्व की ओर सर्जन में तल्लीन प्रत्येक निर्माता सावधान रहता है। पर केवल घटना का महत्व नहीं है, घटना कथा की होनी चाहिए। मूल कथ्य के बिना घटना का अतिचार हो सकता है। अतः शुद्ध घटना से साहित्य शिल्प को संजीवनी धारण करने में सहायता मिलती है। जैसी तैसी तथाकथित घटना से नहीं। 'क्योंकि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी एक घटनात्मक स्थिति है जिसने छायावादी काव्य को प्रतिष्ठित किया पर इस छायावादी काव्य में वह प्राणशक्ति नहीं आई जो सहृदय पाठक को अपने दायरे में आत्मसात् कर ले क्योंकि कल्पना का अतिचार ही उसका जीवन था। 'कामायनी' के प्रबन्ध में भी यदि 'ब्राह्मणग्रन्थ' का मूल कथ्य मनु की कथा का निबन्धन न होता तो यह रचना इतनी विद्वत्प्रियता का प्रसार न कर पाती। प्रगतिवादी काव्य में घटनाचक्र मूल कथ्यों की योजना तो रही पर शब्दशिल्प तिरस्कृत सा रहा और इधर प्रयोगवादी काव्य में शब्दशिल्प का अतिशय हो रहा है और मूल कथ्य छू—मन्तर है। अतः हिन्दी में छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की कविताएँ अभी उस अमर संजीवनी से वंचित हैं जिसके लिए कवि को प्रजापति कहा जाता है।

छायावादी कवियों में प्रजापतित्व की हीनता की चर्चा डा० उपाध्याय ने की है। वे कहते है— **मैं साहित्य के मूल्यांकन के समय यही देखना चाहता हूँ कि साहित्य का प्रणेता कितना महान व्यक्ति है।** इस महान व्यक्ति का

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १११

पर्याय ही संस्कृत में 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' कहा गया है। आगे वे कहते हैं —हम सब छायावादी कवियों की वेदना-विवृति से परिचित हैं और हमने इस वेदनाविवृति के लिए उन्हें भला बुरा भी कम नहीं कहा है। मैं भी उन्हें कोसता हूं पर इसलिए नहीं कि उस काव्य में वेदना की विवृति पायी जाती है, मैं वेदना-विवृति को बुरा नहीं समझता पर देखना यह चाहता हूं कि उस वेदना के पीछे तड़पने वाला जो कलेजा है, वह कैसा है। सवा हाथ का है या नहीं। कहीं कलेजी तो नहीं जो खूब उछल कूद तो करती है, छिपकली की कटी पूंछ की तरह, पर अब बुझी तब बुझी। छायावादी काव्य में कलेजियां ही अधिक मिलीं। यही मेरा उसके विरुद्ध Grievance रहा।[1] हमारे ख्याल से कलेजियों की यह परम्परा प्रगतिवादी साहित्य और परवर्ती साहित्य धारा में भी देखी जाती है। साहित्य-प्रेरणा के महान व्यक्ति का अभाव हमारी वर्तमान साहित्य रचना की समस्या है। साहित्य-प्रेणता का महान व्यक्तित्व ही कथा की महान घटना को जान सकता है। तथा यह भी कि साहित्य विश्व का पर्याय है उसकी प्राणप्रतिष्ठा अल्प में नहीं महान में ही सम्भव होती है।

डा० उपाध्याय ने क्यूमिंग्स की कविता में दुर्ललित पाठक के लिए रचना की अभिव्यक्ति सूक्ष्मता, बारीकी, यथातथ्यता तथा पदार्थानुभूति और अभिव्यक्ति को अधिकाधिक समीप लाने के प्रयत्न की व्याकुलता का दर्शन किया है, क्यूमिंग्स को आधुनिक कवि के जागरण का पर्याय माना है,[2] इन मान्यताओं में कथा के घटना-चक्रों का चारु सन्निवेश दिव्य दृश्यों का सृजन ही प्रमुख हेतु है। 'कविता का जीवन' अध्याय में क्यूमिंग्स की जो दो कविताएं उद्धृत की गयी हैं, वे इसका प्रमाण हैं, कथा के घटनाचक्र का दिव्य-दृश्यात्मक चित्रण करने में कवि का शब्दशिल्प उन कविताओं का जीवन है।

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११६-११७
२. " " पृ० ४५

४ उपन्यास का शिल्प और उपलब्धियां

प्राचीन साहित्य के महाकाव्य, कथा तथा आख्यायिका का सम्मिलित प्रतिनिधित्व आजकल साहित्य की उपन्यास-विधा में होता है। इस प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त भी इसमें अनेक नये कथा-शिल्पों तथा मानव-अन्तर्मन की सम्भावनाओं का समावेश है। सब मिलाकर वह साहित्य की सर्वथा नई विधा है, इतिहास की दृष्टि में उसे महाकाव्य का स्थानापन्न समझना चाहिए। उपन्यास की विधा अभी अपने उत्कर्ष की चरम गति पर है, अतः सर्वतोभावेन उस विधा की शास्त्रीय परिभाषा सम्भव नहीं हो सकी है, यह उसके उत्कर्ष के लिए भी अच्छा है, क्योंकि परिभाषा हो जाने पर परिभाष्य की गति अवरुद्ध हो जाती है। डा० उपाध्याय अपना ऐसा ही मन्तव्य प्रकट करते हैं—"अभी तक उपन्यास का कोई काव्यशास्त्र नहीं लिखा गया। यह एक तरह से अच्छा ही है। जब आलोचना की किरणें रहस्य को उद्भासित कर देती हैं और लोगों को कला के छल—छद्मों का ज्ञान हो जाता है, लोगों को पता चल जाता है कि कला किन-किन उपायों का अवलम्ब लेकर, किन-किन साधनों के द्वारा कहां-कहां से सामग्री प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्रकट करती हैं बस उसी समय वह समाप्त हो जाती है।"[१]

जहां तक आन्तरिक प्राणवत्ता का प्रश्न है, प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी कथा, आख्यायिका की विधाएं महाकाव्य से पूरी समता रखती हैं। आख्यायिका के कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ, उत्कर्ष, (जलक्रीडा, पानगोष्ठी, पुत्र-जन्म) आदि वर्णनों को आचार्य दण्डी ने महाकाव्य (सर्गबन्ध) के समान कहा है।[२] ये आख्यायिका और कथा उपन्यास की निकटतम विधा हैं। यदि

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : 'मेरी मान्यताएं", पृ० १

२. काव्यादर्श १।२९

कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भोदयादयः।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः।

छन्द की गेयता, सुकरता इष्ट न होती, राजन्य पद्यबद्ध प्रशस्ति के श्रवण-लोलुप न होते, तो कथा-आख्यायिका से निकल कर महाकाव्य अपनी अलग सत्ता न बना पाता। महाकाव्य केवल एक विकल्प था, महाकवित्व का सार्वभौम निकष नहीं था। संस्कृत के प्रगल्भ महाकाव्यकारों ने अपनी कृतियों में जैसे दर्शन और शास्त्र के अनेक पक्षों का समावेश कर नवीनता प्रकट की है, आधुनिक उपन्यासकार भी विश्व की तथा उसके समाज की समस्त संवित्ति को अपने उपन्यास में समेट लेना चाहता है। वैज्ञानिक उपन्यासों का सर्जन उसके बहुमुखी प्रसार की सूचना देता है। दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना में अभिनिविष्ट उपन्यासकार मानव अन्तर्मन के विराट आकाश को करतल-आमलक करना चाहता है—यह उसकी अकल्पित पिपासा, प्रसन्न-ताण्डव है। उपन्यासकार के इस दृष्टिकोण में कथाएं, घटनाएं कितने साज-संवार लेकर उतर रही हैं, कहा नहीं जा सकता। डा० उपाध्याय इस द्वितीय पक्ष के उपन्यासों के समीक्षाकार हैं। उन्होंने गहराई तथा आलोडन के साथ उपन्यास-विधा का लेखा-जोखा किया है। प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी की कृतियों ने उनकी कसौटी से चमक प्राप्त की है। प्रेमचन्द तथा रांगेय राघव के उपन्यासों की परख कर उन्होंने उपन्यास कला के इतिहास को उन्मीलित किया है। उन सारी बातों को यहां कहने की उपयोगिता नहीं है, हमें उनकी मान्यताओं पर विचार करना है। अतः हम उन कथ्यों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनकी अपेक्षा भावी उपन्यास कला में डा० उपाध्याय को अभीष्ट है।

पिछले अध्याय में कथाशिल्प की पूर्वदीप्ति, अग्रदीप्ति पद्धतियों की परख हमने की है। संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित अर्थानुकृति तथा अन्य नाटकीय कथांगों को इनके अनुक्रम में किस प्रकार अधिक स्पष्ट बैठाया जा सकता है, इसका तथा एक अन्य शिल्प चेतना-प्रवाह का सारभूत परिचय पीछे दिया गया है। कथा में रहस्यदर्शन प्रवृत्ति की नई उपलब्धि का उन्मीलन रसास्वादन का विकल्प बन सकता है और हमें रसचर्चा में सम्भावित विप्रतिपत्तियों का सरल समाधान मिल जाता है, इस विषय पर पीछे विस्तार से खोजबीन की गयी है—वह सब भी उपन्यास की समीक्षा का एक भाग है तथा उसकी व्याप्ति काव्य और नाटक में भी है, क्योंकि कथा ही साहित्य की विधाओं का आधारभूत धरातल है, और ये सभी निरूपण कथा के तत्वों का ही निर्वचन करते हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है, भारतीय साहित्यशास्त्र में अत्यन्त आहत रस का जीवन भी कथा के बिना असम्भव है। डा० उपाध्याय की दृष्टि से मनोविज्ञान के प्रभाव से घटनाओं के महत्व में ह्रास होता है, कथा

अल्प होती हैं, घटना एक होती है, पात्र इने-गिने होते हैं पर उनका प्रभाव अनेक धाराओं में और दूरगामी होता है।[१] किन्तु उपाध्याय जी के मत में घटना के महत्व का ह्रास और हमारी दृष्टि में कथा (घटना) का अनिवार्य महत्व परस्पर विरोधी नहीं है। वस्तुतः उपाध्यायजी वाह्य जगत् की घटना का ह्रास तथा अन्तर्जगत् की घटनाओं का गगन को आच्छन्न करने वाला विस्फुलिंग चाहते हैं। अर्थात् घटना का महत्व उनकी दृष्टि में भी है, भले वह एक हो, उस एक के बिना सारे वातावरण को गुंजित कर देने वाला निनाद कहां से आयेगा? अन्तर्जगत् की क्रमहीन घटनाओं का अछोर विस्फुलिंग कहां से विस्फोट करेगा ?

डा० उपाध्याय की दृष्टि में मनोविज्ञान का प्रभाव ग्रहण कर घटनाओं के महत्व की उपेक्षा अथवा उसका ह्रास[२] उक्त सन्दर्भ में ही है। क्योंकि अन्यत्र उन्होंने कथा की माँग की समस्या रखी है और उसका समाधान अन्तर्गामिनी मूल प्रवृत्तियों की तरलता को अपनाया है जिसके फलस्वरूप ही कथा के विविध शिल्प जन्म लेते हैं—"उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कथा की मांग करता है, कथा कि अन्तर्गामिनी-प्रवृत्ति वाह्य क्रियाकलापों के उच्च शिखरों की दृढ़ता को संदेह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियों की तरलता को ही अपनाना चाहती हैं और तिस पर पाठक हैं जो उपन्यास के प्रति अपने सन्देह को सहज ही में स्थगित करने के लिए तैयार नहीं। पाठक उपन्यास के सुरम्य स्थलों में विचरण करते समय हरित शाद्वलों का रसोपभोग तो अवश्य करता है पर सतर्कता-पूर्वक उसके कान भी खड़े रहते हैं, जहां कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामियों की ही सेवा कठिन कही जाती है। यहां औपन्यासिक को तीन स्वामियों की सेवा कर उन्हें सन्तुष्ट रखना पड़ता है। 'अहो भारो महान् कवेः'। अतः अपने इस भाव-वहन की योग्यता लाने के लिए परिस्थितियों और उत्तरदायित्व के अनुरूप लचीलापन लाने के लिए उसने कितने टैकनिक, शिल्पविधि के आविष्कार कर लिए हैं। उसमें तीन मुख्य हैं—पूर्वदीप्ति, चेतना-प्रवाह, कालक्रम की उलट-पुलट[३]। कालक्रम की उलट-पुलट अर्थात् क्रमोच्छेदक पद्धति अन्य शिल्पों में व्याप्त रहने वाला विन्यास है। चौथा अग्रदीप्ति का शिल्प है, जो उक्त व्याख्या की जाने तक हिन्दी कथा साहित्य में अंकुरित नहीं हुआ था।

---

१. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ४१५-४१६
२. ,, ,, ,, ,, पृ० ४१५
३. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ४१०-४११

अतः यह कथा जो रचनाकार के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करती है अपने अल्पीयान् स्वरूप में अधिक शक्तिशाली हो जाती है। "मंत्र परम लघु जासु वश विधि हरि-हर-सुर-सर्व" वह बीज रूप में रचनाकार के मानस में आना चाहती है और पुनः विराट वृक्ष बनने की उसकी तमन्ना होती है। उसकी इस तमन्ना के साधक रचनाकार के शिल्प होते हैं।

ऊपर वर्णित शिल्पों के अतिरिक्त भी आज उपन्यास में उसकी संजीवनी को अधिक गहन करने के लिए कथा के कुछ नये शिल्प उद्भावित हो रहे हैं, होते रहेंगे। उनका सैद्धान्तिक परिचय डा० उपाध्याय की समीक्षाओं में मिलता है। इन शिल्पों की उद्भावना उपन्यास कला के अन्तर्प्रयाण तथा उस पर मनोवैज्ञानिक आक्रमण के सामञ्जस्य से निखार ले रही है। मानव-अन्तःस्थल के शब्दातीत भावों को पकड़ने की होड़ में उपन्यास की कला ने कथा को अनेक भंगिमायें दी हैं। इनकी इदमित्यम् सीमा नहीं हो सकती। भंगिमा के इन प्रकारों पर एक दो उदाहरणों से अच्छा प्रकाश पड़ेगा। डा० उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वस्तुवर्णन की नवीनतम प्रस्तुति के लिए कथा स्थलारोपण शिल्प का निर्वचन किया है, दूसरे शब्दों में यह मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशिष्ट आत्मनिष्ठता है, जिसका प्रयोग अब तक नहीं हुआ था। इस आत्मनिष्ठता को हम संस्कृत नाटकों के आकाशभाषित तथा स्वगत कथा शिल्पों की तुलना में अधिक समझ सकते हैं। उपाध्याय जी के शब्दों में ही इसका विवेचन सुनिए—

"एक बात और है, जो हमारे पूर्व के कथाकार प्रायः नहीं समझ पा रहे थे। कल्पना कीजिए कि उन्हें किसी चीज का वर्णन करना है। उदाहरणार्थ किसी भवन का। उनके सामने एक ही उपाय था कि वहां की स्थिति में जितने भौतिक पदार्थ हैं, उन सब कुर्सी मेज इत्यादि का अधिक से अधिक वर्णन किया जाए। वे समझते थे कि इन वस्तुओं के वर्णन से ही उस भवन की वास्तविकता को समझने में पाठक को सहायता मिलेगी। जेम्स ज्वायस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युलिसिस' में डेडालस नामक पात्र के घर एक बड़े दिन के प्रीतिभोज का वर्णन किया है। बालजाक जैसे वस्तुवादी कलाकार के हाथों में यह घटना होती तो वे वहां पर वस्तुओं का अम्बार खड़ा कर देते, वहां के एक एक उपस्कर-सामग्री का वे वर्णन करते, खाद्य पदार्थों में एक एक का नाम गिनाते। निमंत्रित व्यक्तियों की वेषभूषा का, उनकी आकृति का, उनकी भाव-भंगियों का, उनके उठने बैठने के ढंग का, विस्तृत ब्यौरा उपस्थित करते। परन्तु ज्वायस ऐसा न करके उस दृश्य के चित्रण का सारा भार एक बालक तथा कुछ

बृद्ध व्यक्तियों के मत्थे डालकर स्वयं अलग हो गये है। हम उस प्रीतिभोज के बाह्य भौतिक रूप को नहीं देखते। अब हम देखते हैं उस प्रवाह को, उस उफान को, जो कुछ व्यक्तियों के मानस में उपस्थित होता है।

आपने देखा होगा कि किसी पानी के गिलास में फ्रूट साल्ट की थोड़ी सी बुकनी डालते ही किस तरह की आंधी उठ खड़ी होती है, प्रबुदबुदन होने लगता है—मानो पानी का स्वरूप छिप जाता है। मनोवैज्ञानिक कथाकार इसी आंधी के स्वरूप की उपस्थिति में अपना लक्ष्य बनाएगा, कोई वस्तु रहेगी भी तो मानो बगूले पर नाचते हुए तिनके की तरह। पहले के उपन्यासकार भी मानव के आत्मनिष्ठ जीवन, जिसे हमने चेतना कहा है, के चित्रण का ध्यान रखते थे। परन्तु उनका ख्याल था कि इसकी रिपोर्ट ही, लेखक द्वारा, दी जा सकती है, लेखक उनके बारे में कह सुन सकता है पर उन्हें उठाकर उपन्यास के आलबाल में बैठाया नहीं जा सकता। पौधा एक स्थान पर उगा हुआ है, हम उसे बड़े मजे में वहां से उठाकर दूसरे स्थान पर लगा सकते हैं। पर यह कला मनुष्य को बहुत प्रारम्भ में नहीं मालूम रही होगी। बाद में निरीक्षण शक्ति के विकास के साथ वह इस परस्थानारोपण कला का ज्ञान प्राप्त कर सका होगा। इस चेतना के कथा स्थानारोपण की इस कला का ज्ञान मनोवैज्ञानिक कथाओं से ही प्रारम्भ होता है।[1]"

अर्थात् बालक या वृद्ध द्वारा प्रीतिभोज का जो चित्र उपस्थित होगा, वह बाहरी साज-संवार का नहीं होगा। उसमें बालक या वृद्ध की आत्मा को आन्दोलित करने वाले, छू कर समेट लेने वाले वे खंडचित्र होंगे, जिनमें प्राण का स्पन्दन है। प्राण का यह स्पन्दन उनकी आत्मा के विद्युत् स्पर्श से परिचालित होता है, अतः आत्मनिष्ठता के विना इस उपलब्धि की सम्भावना नहीं है। आत्मनिष्ठता की यह रिपोर्ट पहले भी चित्रित होती थी पर उसमें रचनाकार की भाषा मुखर रहती थी। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यह आत्मनिष्ठता स्वयं बोलती हुई होती है—"आत्मनिष्ठ स्थितियों की रिपोर्ट तो दी जा सकती है पर उन्हें उपन्यासों में Render नहीं किया जा सकता। उनको इस रूप में चित्रित नहीं किया जा सकता कि चित्र स्वयं बोल उठे। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की आत्मनिष्ठता स्वयं बोलती हुई होती है।"[2]

उपाध्याय जी ने इस आत्मनिष्ठता को, चेतना के विचार या आत्मनिष्ठ जीवन के प्रवाह को चेतना प्रवाह-पद्धति-शिल्प का विषय बताया है। उनका

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १८-१९
२. " " पृ० १९

कहना है कि पूर्वदीप्ति पद्धति से उपन्यास की जो सम्भावनाएं वंचित रह जाती हैं, उनका प्रस्तुतीकरण चेतना प्रवाह पद्धति से सम्भव होता है। यह चेतना प्रवाह पद्धति पूर्वदीप्ति पद्धति का समयोगी, पूरक कथाशिल्प है। वहाँ दीप्ति है, यहाँ प्रवाह है। तथा परस्थानारोपण कला चेतना-प्रवाह की ही एक भंगिमा है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि स्वयं बोलती हुई आत्म-निष्ठता वर्तमान-भूत कथा की दीप्ति पद्धति है, ठीक उस तरह से जैसे अतीत से कथा को पूर्वदीप्ति पद्धति में रमणीक बनाया जाता है और भावी घटनाओं को अग्रदीप्ति पद्धति में ; अर्थात् वर्तमानकालिक दीप्ति भी सम्भव या अपेक्षित है।

अतीत तथा भावी घटनाओं की दीप्ति पद्धति तो अपेक्षाकृत सरल होती है, विशेषतः पूर्वदीप्ति पद्धति की शिल्प-रचना। कथा जहाँ से समाप्त होती है, वहाँ से उसका आरम्भ किया तो पूर्वदीप्ति पद्धति की एक रूप रेखा खड़ी हो जाती है। परन्तु वर्तमान भूत कथा की दीप्ति पद्धति–प्रत्यक्ष दीप्ति पद्धति का जो संज्ञा–अभिधान हम कर रहे हैं, उसका शिल्प क्या हो? इसके साज-संवार के लिए विशेष सावधानी और सूक्ष्मेक्षण की जरूरत होती है। डा० उपाध्याय के शब्दों को थोड़ा परिवर्तित कर कहा जाय तो कह सकते हैं कि कथा या वातावरण के एक छोटे से अंश को लेकर समग्र कथा या वाता-वरण को बिजली के बल्व की तरह जला (प्रदीप्त कर) देना, वर्तमान-भूत कथा की प्रत्यक्ष दीप्ति पद्धति है। उनका विवेचन इस प्रकार है–"चेतना प्रवाह पद्धति का ही प्रभाव है कि आज के उपन्यासों में स्वगतोक्तिपूर्ण हृदयोद्गारों का प्राबल्य हो गया है। मनुष्य की आन्तरिक भाव–पद्धतियां बड़ी ही असंगत होती हैं, क्रमहीन होती हैं और किसी व्यावहारिक आचरण के नियंत्रण के अभाव में वे यहां—वहां इधर-उधर मुड़-मुड़ जाने वाली बह-बह पड़ने वाली होती हैं। एक भाव या विचार अनेक असम्बद्ध और असंगत भाव साहचर्य को उपस्थित करता है। एक विचार-प्रवाह की धारा के आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे अनेक धाराएं न जाने कब कहां से निकल पड़ेंगी, पता नहीं और मानवबुद्धि को चुनौती दे जायगी। उनको देखकर बालकों की आतिशबाजी की खेलवाली उस छोटी सी डिबिया की याद आ जाती है जो देखने में तो होती हैं छोटी ही, पर दीप-शलाका का स्पर्श पाते ही मानो उसके गर्भ से न जाने कितनी ज्वालामालाएं उफन पड़ती हैं[१]।" यही है स्वयं बोलती हुई आत्मनिष्ठता, चेतना-प्रवाह, जो

---

१. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ११४

वर्तमान-भूत कथा को प्रत्यक्षदीप्ति-पद्धति में प्रस्तुत करती है। वर्तमान तो प्रत्यक्ष होता ही है, फिर उसमें प्रत्यक्ष दीप्ति-पद्धति क्या ? अर्थात् प्रत्यक्ष में नये प्रत्यक्ष का उदय—यही उसका चमत्कार है,जो पूर्व या अग्रदीप्ति पद्धति के चमत्कारों की अपेक्षा अपने अवतरण में अधिक गूढ़ होती है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में जिसे **'अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर व्यंग्य'**[1] कहा गया है, उसी अर्थशिल्प का सजातीय यह कथा शिल्प है। इसको और भी स्पष्ट करना हो तो यों कह सकते हैं कि कथा-शिल्प की यह प्रस्तुति कल्पना के प्रस्तुत रूप विधान का आवरण तोड़कर प्रत्यक्ष रूप विधान का उदय है।

निष्कर्ष यह है कि डा० उपाध्याय की उक्त तीनों पद्धतियाँ अन्तर्जगत् का ही प्रवाह हैं, कला का अन्तर्प्रयाण हैं। पर वे कथा या घटना के अति-शयता से शून्य नहीं होती; जैसे वट के एक बीज से विशाल वृक्ष तैयार कर दिया जाए, वैसे कथा या घटना के सूक्ष्म अणु से विराट विश्व के निर्माण की झांकी हमें मिलनी चाहिए, शिल्प या कथा की ऐसी सामर्थ्य उपाध्याय जी को इष्ट है। उनकी एक मिसाल देखिए—**"हमने बहुत पहले एक खेल देखा था। बाजारों में कुछ ऐसे कागज के टुकडे बिकते थे। शायद वे जापानी थे। वे ऊपरी दृष्टि से तो निर्दोष लगते थे पर न जाने उनमें कौन-सी जादू की पुड़िया घुली रहती थी कि पानी में डालते ही वे कितने रूप धारण कर लेते थे, हाथी घोडे, जानवर या कुछ भी। आजकल के उपन्यास भी वैसे ही हैं। उनकी मानसिक धारा कब किधर उड़ जायगी पता नहीं।"**[2]

चेतना-प्रवाह के अन्तर्गत वर्तमान की प्रत्यक्ष दीप्ति कल्पना के सहारे मंडित होती हैं। कल्पना का सहारा लेकर सत्य को अधिक रमणीयता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। कथास्थलारोपण शिल्प ऐसी कल्पना को अधिक शक्तिमान बना देता है। वर्तमान के इतिहास या राजनीति के सत्य को सत्य-अर्थ में कहने के लिए कल्पना के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं होता। परन्तु हमारी दृष्टि से अब तक व्याख्यात, कवि के कल्पितरूप-विधान से इसकी प्रक्रिया भिन्न होती है। वर्तमान के इतिहास या राजनीति को, जो कि राज-नीति का पक्ष अर्थात् अकथ्य है, कल्पना उसी सही रूप में प्रस्तुत करती है—**"एक युग था, जब कि कल्पना को ही सत्य बनाकर उपस्थित किया जाता था। यह उपन्यास कला का प्रारम्भिक युग था और आज परिस्थिति यह आ गई है**

---

१. द्रष्टव्य-ध्वन्यालोक १।०३-२६

२. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ४२४-२१

कि सत्य को ही कल्पना बनाकर रखा जाने लगा है। आपको कांग्रेस का इतिहास लिखना है, स्वातंत्र्योतर भारत की राजनीतिक या सामाजिक परिस्थिति का चित्रण करना है, बस आप दो चार पात्रों को लेकर कहानी रच डालें। आपका काम चल जायगा। हम चाहें तो उन्हें Psuedo-Nowels कहकर कल्पनात्मक साहित्य के गौरव से वंचित रख सकते हैं।" तथा सम्भव है कि लेखक की इच्छा के बावजूद भी कोई पात्र अपूर्व महिमा से मंडित हो उठे, अतिरिक्त शक्ति से समन्वित हो जाय। इतिहास की सीमा ने उसकी जिस रूपरेखा का निर्माण किया है, उसको लांघकर अपने रूप को चमका ले। अर्थात् वास्तविकता की रिपोर्ट के लिए जितनी बात कहने की आवश्यकता है उससे कुछ अधिक मुखरित हो उठे। जड़ पत्थर भी सजीव हो उठें और रवीन्द्र के पाषाण की भांति अपनी कहानी कहने लगे। लेखक कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के सहारे उस समय की परिस्थिति का चित्रण करना चाहता है। पर वे घटनाएं परिस्थिति का चित्रण मात्र ही न होकर आत्मबोध भी देने लग जा सकती हैं।[1]

अर्थात् कल्पना सत्य को समेट कर उतरती है। वर्तमान को इस प्रकार कल्पना की ओट में ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर देना सरल होता है, जो कि नाम, स्थान तथा घटना के सत्य-विवरण के साथ कहा नहीं जा सकता है। यदि कहा भी जाए तो वह प्रभावकारी न होगा। वह विवाद का रूप लेगा। इसके साथ ही नाम, स्थान तथा घटना के सत्य विवरण देने में कुछ बातें और परिस्थितियां ऐसी होती हैं जो किसी प्रकार कहने की पकड़ में नहीं आतीं। पर कल्पना के धरातल पर अवतरित होते देर नहीं लगती। इतिहास और कल्पना का यह सामञ्जस्य ऐतिहासिक उपन्यासों का कलात्मक सन्धान है, इसमें इतिहास के जरा से सहारे की अपेक्षा होती है, वट वृक्ष के बीज की भांति—चौथी श्रेणी में हम उन उपन्यासों को रख सकते हैं जिसमें किसी ऐतिहासिक पात्र का जरा सा सहारा ले लिया गया हो। जैसे मानो हृदय का घाव पका हो, जरा सा किसी नुकीली सुई से छू दिया कि वह फूटकर बह चला। सम्भव है ऐसे उपन्यास में घटनाएं या पात्र एकदम कल्पित हों पर उनको इतिहास के पात्रों तथा घटनाओं से मिलाकर देख लेना कठिन नहीं होता। जैनेन्द्र का जयवर्धन इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है। यह हैं तो कलात्मक वस्तु ही, पर किसी भी पाठक के मस्तिष्क पर यह संस्कार उगे बिना नहीं रहेगा कि स्वातंत्र्योतर भारत की राजनीति ने इसके लिए पृष्ठभूमि

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १११-११३

तैयार की है। राजनीतिक रंगमंच पर काम करने वाले नेताओं में भी इस उपन्यास के पात्रों की झलक देख लेना कठिन नहीं।[1]

उपाध्याय जी कविता के क्षेत्र में जैसे भाव के विरुद्ध भाषा-क्रान्ति का आह्वान करते हैं। भाषा-प्रयोग में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा देखते हैं वैसे ही उपन्यास के क्षेत्र में वर्णन-शैली, जो प्रेमचन्द के उपन्यासों की टेकनीक है, के विरुद्ध दीप्ति-पद्धति की प्रतिष्ठा उन्हें इष्ट है। अनकही कहानी में उपन्यास समाप्त हो, यही उसकी चरम कला है। अपने इस सिद्धान्त का कलान्वयन सर्वाधिक जैनेन्द्र के उपन्यासों एवं कहानियों में देखते हैं। जैनेन्द्र उनके सिद्धान्तों के प्रत्यक्षकर्ता रचनाकार हैं अथवा यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों की अनेकांश में जैनेन्द्र की रचनाओं से खोज की है। पर यह जो कुछ खोज है उसमें देश-काल को अतीत कर नाड़ी पकड़ने की क्षमता है।

दीप्ति पद्धति या चेतना प्रवाह अनेक भंगिमाओं में ग्रहण किये जा सकते हैं। ऐसी भी भंगिमाएं हो सकती हैं, जिसमें दीप्ति और प्रवाह साथ-साथ चलते हों। पीछे जो कथास्थलारोपण का विश्लेषण हुआ है, उसका विस्तार या नया अवतरण आत्मकथात्मक पद्धति या डायरी पद्धति के शिल्प में होता है। इन शिल्पों में दीप्ति पद्धति (पूर्व, अग्र) और चेतना प्रवाह मिले-जुले पाये जायेंगे। अनेक शिल्पों के एकत्र संगम के कारण ही उपन्यास कला का यह शिल्प अधिक प्रभावकारी शिल्प बन जाता है। इस पद्धति के समर्थ कुशल कलाकार जैनेन्द्र हैं; वैसे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी डायरी पद्धति की रचना है। डा० उपाध्याय का कथन है कि "जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यास केवल प्रारम्भिक दो उपन्यासों 'परख' और 'सुनीता' को छोड़कर आत्मकथात्मक पद्धति में लिखे गए हैं। इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि ये उत्पाद्य कथावस्तु नहीं है, अपितु अकस्मात् किसी व्यक्ति की डायर उपन्यासकार के हाथ लग गयी है और वह उसी को थोड़ा सम्पादित कर पाठकों के पठनार्थ प्रकाशित कर रहा है। यहां दो बातों की ओर मेरा ध्यान जा रहा है। प्रथमतः तो यह कि उपन्यासकार ने आत्मकथात्मक शैली को क्यों अपनाया और द्वितीयतः यह कि अपने उपन्यासों की मौलिक कथा को, दूसरों की प्राप्त डायरी के रूप में ही प्रख्यात कर लोगों के सामने क्यों उपस्थित किया ?[2]"

---

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० १५६
२. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३८

यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। डा० उपाध्याय जी का कहना है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की बात थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दी जाय तो भी हम पाते हैं कि प्रेमचन्द्रोत्तर युग के अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों का स्वरूप-विधान इसी शैली में हुआ है। बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख, पर्दे की रानी, उल्का, मरुप्रदीप, शेखर इत्यादि में यही पद्धति अपनायी गयी है। यहां संयोग की बात कहकर सन्तोष कर लेने की बात नहीं है, आन्तरिक गहराई में इसका मूल छिपा है।[1]

डा० उपाध्याय जी ने इसका समाधान ढूंढ़ा है—विश्व के इतिहास को सदा दो तरह के युगों से होकर विकसित होना पड़ा है : १—स्थिरता का युग, २—अस्थिरता का युग। प्रथम प्रकार के युग में बाह्य जगत् बरकरार रहता है। जीवन राजमार्ग पर बढ़ता चला जाता है, किसी तरह की सम्पन्नता के भाव जगते नहीं, दृष्टिकोण भी बहिर्निष्ठ रहता है। दूसरे प्रकार के युग में, जिसमें से होकर हम बढ़ रहे हैं, ये सारी बातें उलट-पुलट जाती हैं। ऐसा लगता है कि बाह्य जगत् ने धोखा दिया। अतः मनुष्य निराश होकर अपने आन्तरिक जगत् की ओर लौटता है कि सम्भवतः वहीं शरण मिले। यही हमारा कथाकार कर रहा है। वह दुनिया की कथा न कहकर अपनी कथा कहने लगता है। दुनिया भले ही साथ न दे, वह मेरी बात न समझे पर मेरा, 'स्व' तो मेरे साथ सदा रहने वाला है। उसी पर पैर आजमा कर देखा जाय। यही कारण है कि उपन्यासों में आत्मचरितात्मकता का विकास हो रहा है। जैनेन्द्र के उपन्यास तो, ऐसा लगता है, दूसरी पद्धति में लिखे ही नहीं जा सकते। क्योंकि उनके उपन्यासों में 'स्व' की कथा छोड़कर 'पर' की कथा है ही नहीं।[2] अर्थात् युग की परिस्थितियों ने अस्थिरता के वातावरण ने उपन्यासकला को नये मोड़ पर ला खड़ा किया है। अपने इस नये शिल्प में कला की सारी विशेषताओं को वह समेटता चला चल रहा है। बाह्य जगत् के धोखा देने पर अपने 'स्व' की कहानी कहने का जहां तक प्रश्न है, इतिहास के कई युगों में इसके दृष्टान्त मिलते हैं पर कहानी कहने का आज जैसा स्वच्छन्द और प्रशस्त वातावरण उनके सामने नहीं था, जिसमें वे अस्थिरता का सीना तान कर विरोध करते। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का पूर्वार्द्ध, भर्तृहरि का 'वैराग्यशतक'; तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' तथा 'कवितावली' का उत्तरकाण्ड अपने ही 'स्व' की कथा है, पर वे बहुत छिपकर आये हैं, फिर उनमें कलात्मकता की बात कहां उठती?

---

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३९
२. " पृ० ८२
शैकार, पृ० १३५

जैनेन्द्र को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास में इस आत्म-कथात्मक पद्धति को जन्म दिया है। यदि उन्होंने इस पद्धति को अंग्रेजी साहित्य से ग्रहण किया हो तो भी इस श्रेय में कमी नहीं आती''पर जैनेन्द्र जी जैसे अपरिग्रही व्यक्ति से यह आशा करना कि उन्होंने इन्हें पढ़कर इस तकनीक को अपने उपन्यासों का आधार बनाया हो, अधिक अनुमान से काम लेना है। यदि यह बात मान भी ली जाय कि जैनेन्द्र ने वहीं से संकेत ग्रहण किया है तो भी यह जैनेन्द्र की प्रतिभा के लिए कम गौरव की बात नहीं है। साहित्य में मुख्य प्रश्न ऋण का नहीं; वैसे तो सब साहित्यकारों ने कालिदास, शेक्सपियर आदि से ऋण लिये हैं। प्रश्न मुख्य यह है कि उन्होंने उस ऋण के रूप में ली हुई सामग्री का कैसा 'इन्वेस्टमेण्ट' किया है। क्या ऐसी जगह उसे लगाया है कि उसमें निरन्तर विकास होती रहे।[1] जैनेन्द्र जी ने ऐसा ही किया है।"

डायरी के ढंग में लिखे जाने से जैनेन्द्र जी के उपन्यास अपने-आप में समृद्ध होकर 'अन्यूनातिरिक्त मनोहारिण्यवस्थिति' में पहुंच जाते हैं, जहां उनकी कला का सौन्दर्य न न्यून होता है, न अतिरिक्त। अर्थात् उनमें कोई काट-छांट नहीं हो सकती। डायरी का ढंग उपन्यास का उत्तमपुरुषात्मक रूप होता है। उत्तमपुरुषात्मक अर्थात् सीमित दृष्टिकोण, जिसमें पात्रों की संख्या अल्प हो जाती है, एक व्यक्ति से कितनों का सम्पर्क होगा? उपाध्याय जी कहते हैं कि 'सीमित दृष्टिकोण वाली शैली आगे विकसित होकर 'आत्म-पुरुषात्मक' का, जिसे उत्तमपुरुषात्मक कहा गया है, रूप ले लेती है। परिणाम यह होता है कि कथा में कसावट आ जाती है। पात्रों की अधिकता नहीं होने पाती। एक व्यक्ति कितने व्यक्तियों के सम्पर्क में आवे भला! कथा-शरीर पर मांस के रूप में पड़े रहने वाले झाड़-झंखाड़ स्वयं छंट जाते हैं और उपन्यास कला समृद्ध होती है। यही कारण है कि प्रेमचन्द, यशपाल, अश्क इत्यादि के उपन्सासों का संक्षिप्त संस्करण तो निकल सकता है पर जैनेन्द्र के उपन्यासों के साथ यह छेड़-छाड़ नहीं चल सकती।[2]"

उपाध्याय जी द्वारा किये गये उपन्यास के कथा-शिल्प विषयक व्याख्यान के विश्लेषण के साथ हमारा ध्यान आचार्य कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता की व्युत्पत्ति की ओर जाता है। 'वक्रोक्ति जीवित' के चौथे उन्मेष में उन्होंने प्रबन्ध-वक्रता के छह भेद बताए हैं। वक्रोक्ति साहित्य का जीवन है, उस प्रसंग में कुन्तक के सिद्धान्त के प्रति डा० उपाध्याय की स्वीकृति का उल्लेख

---

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३९
२. " " पृ० ८१

पिछले अध्याय में हो चुका है। यहां हम प्रवन्ध-वक्रता के दो भेदों–समापन वक्रता तथा विच्छिन्नकथावक्रता—का परिचय दे रहे हैं, जिससे यह स्पष्ट होगा कि उपन्यास की जिस कथाभंगिमा के प्रति आज का रचनाकार अधिकाधिक सजग हो रहा है, भंगिमा-वक्रता के निरूपण में अभिनिविष्ट भारतीय आचार्य ने भी आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व शिल्प-सजगता की उस भूमि की ओर दृष्टि डाली थी। समापन वक्रता का परिचय है—

"विश्व के लिए अभिनव घटना, नायक के उत्कर्ष के बोधक इतिहास के एक भाग से ही प्रबन्ध को समाप्त कर देना, जिससे उसकी उत्तरवर्ती विरस कथा का अपने-आप त्याग हो जाता है, कथा की विचित्र समापन वक्रता है।[1]" अर्थात् इतिहास का एक देश, जहां कथा सरसता के अन्तिम सोपान पर हो, प्रवन्व का समापन कर दिया जाये। यह पूर्वदीप्ति पद्धति की विलोम-प्रक्रिया हुई, किन्तु दोनों की प्रक्रिया के केन्द्रविन्दु एक हैं। एक ओर सरसता की प्रगाढ़ स्थिति में कथा का समापन है और दूसरी ओर जहां कथा समाप्त होती है वहां से उसका आरम्भ (दीप्ति) किया जाता है। केन्द्र विन्दु की यह समानता कम आश्चर्य की वात नहीं है। कुन्तक ने कम से कम ऐसे दीप्ति-केन्द्र का निर्देश किया है, जहां उनकी दृष्टि से विलोम उन्मेप कर हम आज के शिल्प का उद्‌घाटन तो कर सकते हैं। यदि केन्द्र विन्दु मिल जाय तो दृष्टि आगे-पीछे दोनों ओर डाली जा सकती है।

दूसरी है विच्छिन्न-कथा-वक्रता (कथा-विच्छेद वक्रता)। 'प्रवन्ध में प्रधान कार्यवस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित कर देने वाले ऐसे कार्यान्तर का विधान कर दिया जाना, जो एक ओर तो कथा को विच्छिन्न और विरस कर देता है पर दूसरी ओर इस विच्छिन्नता के साथ ही प्रधान कार्य की समय से पूर्व ही सिद्धि हो जाती है और कथा अबाध रस की उज्ज्वलता से दीप्त हो उठती है। प्रबन्ध की यह अनिवर्चनीय नूतन वक्रता है।[2]" यहां कथा की

---

४. वक्रोक्तिजीवित ४।४८–४९
त्रैलोक्याभिनवोल्लेखनायकोत्कर्षपोषिणा।
इतिहासैकदेशेन प्रबन्धस्य समापनम्॥
तदुत्तरकथावर्तिविरसत्वजिहासया।
कुर्वीत यत्र सुकविः सा विचित्रास्य वक्रता॥

५. वक्रोक्तिजीवित ४।२०–२१
प्रधानवस्तुसम्बन्धतिरोधानविधायिना।
कार्यान्तरान्तरायेण विच्छिन्नविरसा कथा।
तत्रैव तस्य निष्पत्तेः निर्निबन्धरसोज्ज्वलाम्।
प्रबन्धस्यानुबध्नाति नवां कामपि वक्रताम्॥

विच्छिन्नता तथा प्रधानकार्य की समय से पूर्व सिद्धि का आभास दोनों क्रमशः यहां निरूपण किये गये कथा के अक्रम-शिल्प एवं अग्रदीप्ति पद्धति की सरणि के सजातीय उन्मीलन हैं।

कुन्तक और देवराज उपाध्याय के साहित्य-सिद्धान्त के उन्मीलन की कुछ साम्यताएं अद्भुत हैं। उनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कोई एक सत्य है, जिसकी खोज में अनजाने ही ये समानताएं प्रकट हो गई हैं। उपाध्याय जी के व्याख्यात कथाशिल्प की ऐसी अन्य समानताएं कुन्तक के प्रकरणवक्रता निरूपण में मिलती हैं। यह विषयान्तर है और उसका विस्तार यहां नहीं किया जा रहा है।

यह तो उपन्यास के शिल्प की बात हुई। अब उपलब्धि का प्रसंग आता है। उपलब्धि के लिए सिद्धान्ततः कुछ बातें कही जा सकती हैं, पर पाठक उपन्यास से कितना, क्या-क्या पा लेता है, इसका इदमित्थम् लेखा-जोखा नहीं हो सकता है। यह उपन्यास की गहन सजीवता पर भी निर्भर है, जब पाठक उपन्यास के पात्र के अतिरिक्त और कुछ देखे ही नहीं। अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपन्यास का चमत्कृत शिल्प ही उसकी अनेक उपलब्धियों का सोपान है, वे उपलब्धियां पाठक के अपने देश-काल-वातावरण में तथा समाज के लिए भी इन स्थितियों में होंगी, पर यदि शिल्प न रहा तो उपन्यास में उपलब्धि की खोज व्यर्थ का प्रयास है। शिल्प में उपलब्धियां झांकती हैं। यदि उपाध्याय जी का ही दृष्टान्त दूं तो कहना चाहिए कि 'खुदा जब हुस्न देता है नज़ाकत आ ही जाती है' अर्थात् हुस्न से नजाकत का जो प्रकृत सम्बन्ध है, वही उपन्यास के शिल्प से उसकी उपलब्धि का है। अतः हिन्दी के उपन्यासकार को अपनी कला की ओर अधिक तत्पर होना चाहिए, उपलब्धियां कला के अन्तराल से फूटती रहेंगी—'मेरे जानते हिन्दी के उपन्यासकार बहुत ही अच्छी परिस्थिति में हैं। अच्छी परिस्थिति में, मैंने उपन्यास निर्माण की दृष्टि से कहा है क्योंकि उनके सामने वे सारे प्रयोग मौजूद हैं (अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ) जो विदेशी उपन्यासकारों के द्वारा किए गये हैं। हिन्दी उपन्यासकार इन दोनों के बीच समन्वय की प्रवृत्ति लेकर अपनी कला का विकास कर सकते हैं और जहां तक मेरा ख्याल है वे कर भी रहे हैं। भले ही वे ऐसी उच्चकोटि की रचना करने में सफल नहीं हो सके हों, जो हठात् लोगों का ध्यान अपने गौरव की ओर आकर्षित कर सके। हिन्दी में आज जो कुछ लिखा जा रहा है, वह बहुत कुछ बाहरी प्रेरणा से ही प्रेरित होकर लिखा जाता है। चाहे वह

प्रेरणा पुरस्कारप्राप्ति की हो अथवा अपने साहित्य क्षेत्र में अमरत्व की पूर्ति की। इसमें आन्तरिक प्रेरणा, जिसे अंग्रेजी में Subjective Sanction कहते हैं, बहुत कम है। इसलिए उसमें कलात्मकता की दीप्ति नहीं मिलती उपन्यासकारों के सामने हर तरह के प्रयोग हैं। उन लोगों को अपने अन्दर दृष्टिकोण का ऐसा व्यापकत्व उत्पन्न करना चाहिए जो सीमा में इन सब बातों को समेट ले। उपन्यास के बन्धन बहुत ही लचीले हैं, उनको मनमाने ढंग से तोड़ने मरोड़ने की अधिक सुविधा होती है, इसलिए उपन्यासकारों को अनुभूति की आत्मनिष्ठता तथा समाज की सामूहिकता के बीच दोनों से ऊपर उठना चाहिए। यह तो सही है कि सृजनात्मक साहित्य की रचना बिना व्यक्तिगत अनुभूति के नहीं हो सकती। सब में लेखक की आत्मनिष्ठता होनी चाहिए। परन्तु पत्रकारिता और इतिहास हमारे सामने जिस दम घोटने वाले अमानवीय संसारचक्र को उपस्थित कर रहे हैं, उसको इस व्यक्तिगत अनुभूति के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित कर समाज के सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों का महत्व तथा वैयक्तिक चेतना के सौन्दर्यमूलक मूल्य इन दोनों को एक स्थान पर लाकर संगत किस तरह से किया जाय, यही हमारे उपन्यासकारों की मुख्य समस्या है।"[1]

उपन्यास पाठक को उपलब्धि देने में समर्थ हो, इसके लिए आवश्यक है कि उसकी स्थिति अनासन्न लेखकत्व की हो, उसमें आसन्न लेखकत्व न पाया जाए। उपन्यास के दो तत्व होते हैं। (१) भाषा तथा (२) भाषेतर विधान। यह भाषेतर विधान तभी समृद्ध होकर प्रकट होता है, जब लेखक उपन्यासकार, रचनाकार सर्वथा अपनी रचना में अपने को गुप्त कर दे, कहीं से यह गंध भी न मिले कि यह लेखक बोल रहा है अथवा यह लेखक की दृष्टि देख रही है। अन्यपुरुषात्मक ढंग से जब कथा कही जाती है, तब लेखक निश्चित रूप से उपस्थित हो जाता है, लेखक की उपस्थिति बचाने के लिए आत्मचरितात्मक उत्तम पुरुष में कथा को प्रस्तुत करने का शिल्प अपनाना पड़ता है। यहां एक बात और आ जाती है कि ऐसे उपन्यासों के लिए हिन्दी में अभी पाठकों का भी अभाव है, ऐसे पाठक जिनके कान आंख से अधिक सक्रिय हों। अतः उपन्यास की उपलब्धि अपने पाठक की उपलब्धि पर भी निर्भर है। उपाध्यायजी इस बात को स्वीकार करते हैं—मैंने अपनी सुविधा के लिये सिद्धान्त सा बना लिया है कि कविता (साहित्य) की अपील बाहरी कानों तथा आन्तरिक आंखों के प्रति होती थी परन्तु अब

साहित्य की अपील बाहरी आंख और आन्तरिक कान के प्रति होगी। लोग सुनेंगे कम और देखेंगे अधिक अर्थात् पढ़ेंगे एवं मनन अधिक करेंगे। मतलब यह कि अब उपन्यास के पाठक होंगे जो उपन्यास पढ़ते समय अपने मस्तिष्क को सक्रिय रखेंगे, मनन करते चलेंगे। यही सच्चे पाठक हैं। वास्तव में सच पूछिए तो पहले के पाठक पाठक से अधिक श्रोता होते थे। वास्तविक पाठकत्व अब इस मौन पाठ के युग में उत्पन्न हो रहा है।[1]

मौन पाठ या मौन आचरण का अर्थ है कर्म की अति सघन प्रेरणा, जहां केवल क्रियाशीलता के, अन्तःकरण की दूसरी स्थिति नहीं होती, न कहने की, न सुनने की। यह केवल उपन्यासकार या उपन्यास के पाठक का ही चरम उत्कर्ष नहीं है, प्रत्येक आचरण मौन होकर तदनुकूल ही कम या अधिक महान् सम्प्रभुता से युक्त हो जाता है। आज से अर्धशती पहले अध्यापक पूर्णसिंह ने अपने 'आचरण की सभ्यता' निबन्ध में जिस मौन आचरण का व्याख्यान किया है, उससे उपाध्याय जी की उक्त स्थापना की बात समझ में आ जाती है और हम देखते हैं कि यह बात आध्यात्मिक तथा सैद्धान्तिक सत्य है। उपाध्याय जी के अनासक्त लेखकत्व तथा पाठक के मौन पाठ की उनकी ही अभीष्ट व्याख्या पूर्णसिंह के शब्दों में सुनिए—

"आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है। राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्य भाषा और क्या अन्य देश की भाषा सब की सब तुच्छ प्रतीत होती है। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाड़ी में सुन्दरता को पिरो देता है। प्रेम की भाषा शब्दरहित है।[2]" प्रेम की भाषा जैसे शब्द रहित होती है, वैसे ही उपन्यास ऐसा हो कि उसमें उपन्यासकार गायब हो तथा पाठक का पाठ श्रवणरहित हो, उसमें अन्तःश्रवण की उच्चतम स्थिति आ जाये—यही उपन्यास की शीर्ष उपलब्धि का प्रमाण है।

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १३४

२. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध, पृ० ११७-११८

पहले चर्चा की जा चुकी है कि उपाध्याय जी के मत में उपन्यास की सफलता तब है जब वह पाठक को भी उपन्यासकार बना दे। अतएव ऐसी स्थिति तब आती है जब पाठक आन्तरिक चेतना के विवरण ग्रहण कर घटनाओं का अनुमान करता है न कि घटनाओं से आन्तरिक चेतना का। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में उसकी उपलब्धियों की यह एक कसौटी है। "पहले के उपन्यास में वाह्यनिष्ठता रहती थी, घटनाओं का वर्णन रहता था। हम पात्रों की आत्मनिष्ठता, उनकी आन्तरिक चेतना का अनुमान करते थे। आज आत्मनिष्ठता, उनकी आन्तरिक चेतना का विवरण रहता है, पाठक घटनाओं का अनुमान कर लेता है। बात यह है कि पाठक को उपन्यासकार से समझौता करना ही पड़ता है। उपन्यास क्षेत्र की कुछ शर्तें होती हैं, उन्हें स्वीकार किये बिना वह पाठक हो ही नहीं सकता। पहले का उपन्यासकार ऊपर बैठा रहता था। सब को सहज दिखलाई पड़ जाता था। पर अब वह नीचे दुबका बैठा है। अतः दीख नहीं पड़ता। दीख इसलिए नहीं पड़ता कि पाठक अभी भी बहुत कुछ वही पुराना पाठक है, उसी धरातल पर है। अभी भी वह ऊपरी कहानी चाहता है। कहानी का अंश आज कम है। अतः कह देता है कि लेखक तिरोहित हो गया है। यदि वह थोड़ी गहराई में पैठे तो लेखक को साफ बैठे हुए तथा डोर हिलाते हुए देख सकेगा। जो ऐसा प्रबुद्ध पाठक है वह देखता भी है। एक जमाना आयेगा जिस समय लेखक के तिरोधान होने वाली थ्योरी भी explode हो जाएगी। तब लेखक को कुछ और पैंतरेबाजी बदलनी पड़ेगी।"[१]

हमारा आलोचक उपन्यास से कैसी उपलब्धियों की अपेक्षा करता है। वह कुछ इन उद्धरणों से पता चलेगा। साहित्य की प्राचीन मान्यताओं से वह बहुत भिन्न दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत कर रहा है। जरा शोधपूर्वक इस दृष्टि को समझना चाहिए। केवल मनोविज्ञान के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं है। प्रसिद्ध बात है, भारतीय काव्यशास्त्र का कवि अद्वितीय प्रजापति है, अपूर्व सृष्टि का विधाता, रम्य निर्माणशाली। अर्थात् साहित्य विश्व का पर्याय है और कवि विश्वसृक् है। उपाध्याय जी का मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी ऐसा ही है, पर आलोचक उसे विश्वसृक् की सच्ची प्रकृति में लाना चाहता है, अर्थात् वह अलख निरंजन हो, रहस्य के परे हो, तभी वह सफल कृति कर सकेगा, तभी उसकी कृति उपलब्धिक्षम होगी। "आधुनिक उपन्यासकार का ध्यान लाभ या हानि के उल्लेख की ओर नहीं होगा। यदि

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १३९–४०

उपन्यासकार उपन्यास में वर्तमान रहेगा तो दो बातें होगी। उपन्यास की कला ने जिस दुनियां की सृष्टि की है,उसकी यथार्थता, कहिए महत्ता छिन्न-भिन्न हो जायेगी । यदि इस विश्व का सृजन-हार सरेबाजार चहलकदमी करता नजर आए तो इसे कोई पसन्द करेगा भला ! यह तो सारा मजा ही किरकिरा हो गया। (जहां अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पर उसे नाच नचाती हैं) वह मथुरा-वृन्दावन है। वहां लोग उपन्यास नहीं पढ़ते। यह तो मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः हैं जो उपन्यास पढ़कर जीवन का यथार्थ परिचय करना चाहते हैं। उन्हें रासक्रीडा से क्या मतलव ?[1]

सहस्र शिर, सहस्र आंख और सहस्र कर-चरण वाले विराट मनुष्य को, जिसका अन्तःकरण इससे भी हजारगुना विराट् है, बाहर-भीतर से उपन्यास में रूपायित होना चाहिए। रूपायित क्या, अपनी इन सहस्र प्रवृत्तियों में हमें वह बोलता हुआ मिले। पाठक मनुष्य अपने रहस्यमय अन्तर्लीन हृदय को, भीतर की आंख खोलकर देखे—पृथ्वी और आकाश के समस्त अन्तराल भी उसके हृदय के चित्र के विस्तारहेतु पर्याप्त नहीं है। पर ऐसे उपन्यास की रचना बहुत कुछ देशकाल की घटनाओं पर भी निर्भर है, जिनमें महान् साहित्यकार जन्म लेता है—"अतः भारतीय कथा साहित्य के निर्माण के लिए उन सारी परिस्थितियों का अभाव था, जिनकी चर्चा ऊपर की पंक्तियों में यूरोपीय कथासाहित्य के सन्दर्भ में की गयी है। विश्वव्यापी युद्ध की ध्वंसताण्डव लीला भारतभूमि पर मची नहीं, जो लोगों की भौतिक एवं भावात्मक सत्ता को जड़ से हिला दे।...रह गई सृजनानुकूल चित्तावस्था की बात, जो प्रथम विश्वव्यापी युद्धोत्तर कथाकारों को थामे रखती थी। वह भी बात यहां के कथाकारों का साथ नहीं दे सकी। मनुष्य के मन या चित्त की गहराई की छानबीन अभी तक भी पूर्णरूप से नहीं हो सकी है। वह क्यों, कैसे और किस रूप में परिवर्तित होता है, कहा नहीं जा सकता।[2]

अपने ही सुरूप या कद्रूप का पूर्ण रहस्यदर्शन तथा गूढ आत्मस्वरूप को राई-रत्ती जान लेना ही जैसे आत्मविजय है, यही आत्मविजय उपन्यास रचना की उपलब्धि मानी जा सकती है जो समाज के विघटित मूल्यों से सत्ता का संयोग खोज लाती है—'सारी चीजें मूल्यहीन हैं। सही है, पर मूल्यों का विघटन है तो महत्वपूर्ण। मूल्य टूट रहे हैं, टूटें पर इनके टूटने की क्रिया तो

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,पृ० १३८
२. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : और मेरी मान्यताएं,

महत्वपूर्ण है, यह तो मूल्यवान् है । हम इसी के आधार पर साहित्य-रचना करेंगे। आचार्य कह ही गए हैं कि वस्तु चाहे कैसी भी हो—रम्य, जुगुप्सित, उदार, नीच, उग्र, गहन अथवा अवस्तु ही क्यों न हो, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो कवि भावक-भाव्यमान होकर रसोपेत न हो जाय।.... हम इसी मूल्याभाव जगत् की रचना करेंगे।...यही एक उपाय था जिसके द्वारा बिना उसके प्रति आत्म-समर्पण किए इस साहित्यिक विघटन की अभिव्यक्ति की जा सकती थी।....हिन्दी के भक्त कवियों ने इतना ही भर तो किया है कि रति-भाव जो संसार की धूल में लोटकर गर्हित हो रहा था, नायिका के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहा था, उसे वहां से उठाकर ईश्वरोन्मुख कर दिया। बस इतनीसी बात के कारण सारे भक्ति-साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल गया है। हेमिंग्वे, अल्टस हक्सले, स्काट फिट्जर ग्लार्ड आदि ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन समाज के भावात्मक विघटन के कारण जो अनास्था-विद्रोह, अनादर-अवहेलना इत्यादि टुकड़े उड़ते फिरते थे, उन्हें स्थान दिया अर्थात् उन्हें अपने हृदय के भावों से समन्वित किया परिणाम यह हुआ कि जहां वे बाहर रहकर ध्वंस करते थे, तखंड-पखंड मचाते थे वहां अब हृदय को थामने लगे हैं। है तो अनास्था पर आस्था की ओर संकेत करती है। है तो विद्रोह पर उसके गर्भ में है मिलाप। गोदावरी है विषमय पर अमृत का फल देती है। आत्म-भर्त्सना कभी भी वांछनीय नहीं, पर कवि जब कहता है 'मोसम कौन कुटिल खल कामी' तो यह विश्व-विजय नहीं, जो सबसे बड़ी विजय है आत्म-विजय उसकी प्राप्ति के लिए ललकारती है।[1]

अनास्था में आस्था तथा विघटन में स्थिरता की स्थापना ही भारतीय साहित्य-रचना की प्रवृत्ति है और यही होना चाहिए, पर यह भी सत्य है कि उपन्यास कला की चरम परिणति रखने वाले उपन्यास अभी हिन्दी में नहीं आए हैं, उनके लिए देशकाल की अपेक्षा है—यह भी सही है कि हिन्दी में जेम्सज्वायस, विरजीनिया वुल्फ इत्यादि की तरह किसी भी उपन्यासकार की प्रतिभा ने शुद्ध एवं चेतनात्मक उपन्यास प्रस्तुत नहीं किया। कारण यह है कि भारत में अभी भी जीवन की यह बिखराहट, विघटन, टूट-फूट नहीं आई है कि एक भी बिन्दु पर खड़ा होने का अवसर ही नहीं मिले। बाह्य-एकता, सन्दर्भ, अभी भी बरकरार है। शायद भारत में यह छिन्नभिन्नता कभी भी नहीं आएगी। भारतीय संस्कृति अध्यात्मवादी तथा संश्लेषणात्मक है। वह

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : और मेरी मान्यताएं, पृ० १११-११२

कभी भी जोड़ने वाले आन्तरिक तार को टूटने नहीं देगी। कम से कम अभी वह स्थिति आने में देर है।···हिन्दी उपन्यास भले ही अवमूल्यन की, निराशा की, अनास्था की बातें करें पर उनका व्यंग्य मूल्य-महत्व का, आशा का, आस्था का, प्राणों के संचार का है। हां, हिन्दी-कहानियों में इस तरह के आसार जरूर नजर आ रहे हैं यह तो वयःसन्धि की वहक के सिवा और कुछ नहीं, जो जरा रोब में आकर तोड़-फोड़ करने लगती है। विवेक चिन्तन शील भारतीय मनीषा इसे कभी भी पनपने नहीं देगी। यूरोपीय इतिहास के लिए यह भले ही नया दृश्य हो पर भारतीय इतिहास ने इससे भी भयंकर दृश्य देखे और उनका सफलतापूर्वक सामना किया है।[1] अभी तक का इतिहास भारतीय साहित्य की इसी प्रवृत्ति का साक्षी है, शायद ही उसकी इस प्रकृति को परिवर्तित करने वाली स्थिति आए। इसी सन्दर्भ में हमें प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र की उन वक्तृताओं की याद आती है, जिनमें वे भारतीय साहित्य और यूरोपीय साहित्य का अलग-अलग वर्गीकरण करते हैं। यूरोपीय साहित्य ही नहीं, प्रत्येक महा-भूखण्ड के साहित्य की दिशा अलग होती है। विश्व का विज्ञान एक होगा, पर साहित्य नहीं।

डा० उपाध्याय ने उपन्यास (कथा) के शिल्प के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त स्थापित किये हैं, वे शिल्प अपने आप उपलब्धियों से अन्तर्गभित होते हैं। उपलब्धियों की सीमा नहीं है, सिद्धान्त में उनका वर्गीकरण भले कर दिया जाये। जैसाकि उपाध्यायजी ने किया है। वह पाठक का पक्ष है। उपन्यासकार का पक्ष उसका शिल्प है। 'लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उपदेश देना चाहता है, वह अलग-अलग तैरता नहीं दिखलायी पड़ता, परन्तु सारे उपन्यास में घुला-मिला रहता है। घटनाएं जिस पैटर्न में ढली हैं, जिस तरह की शैली का प्रयोग किया गया है, जिस तरह के या जितने पात्र लाये गए हैं, जीवन के जिस कोने से घटनाओं का निर्वाचन हुआ, वे सब मिल-जुलकर उपदेश को ध्वनित करते हैं।'[2]

उपन्यास की ऐसी सामर्थ्य, जिसमें पद-पद पर उपलब्धियां झांकती रहती हैं। डा० उपाध्याय के अनुसार उसके डायरी पद्धति के उत्तमपुरुषात्मक कथा-शिल्प में निहित होती है। हम समझते हैं कि भारतीय साहित्य की परम्परा में भी इसकी साक्षी है। भले ही वह उपन्यास की विधा न हो, काव्य की विधा हो। उपाध्याय जी का कथन अनेक जगह कालातीत सत्य का ही

---

१. डा० रांगेय राघव। उपन्यास। और मेरी मान्यताएँ, पृ० १२७-१२८
२. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १४०

उद्‌घाटन होता है। कालिदास के 'मेघदूत' का दृष्टांत रखकर इसे हम अवगत कर सकते हैं। 'मेघदूत' काव्य है, उसमें विरहपीड़ित यक्ष की छोटी-सी कहानी है, कहानी वहां से आरम्भ होती है, जहां वह समाप्त होने जा रही है। अलकापति कुवेर ने यक्ष को एक वर्ष तक प्रिया से दूर रहने का दण्ड दिया था। उस दण्ड के आठ महीने वीत गये हैं, चार महीने शेप हैं, अपराध क्या था, दण्ड-विधान की वातें कैसे आईं। यह सब कुछ न कहकर कवि केवल यह कह रहा है कि वर्षाकाल में विरह असह्य हुआ और वह यक्ष चेतना-चेतन विवेकशून्य होकर वादल से प्रिया को सन्देश भेज रहा है। वह रामगिरि पर करुणभाव से वैठा है। सन्देश हिमालय की गोद में वसी अलका नगरी को भेजना है। वस इतनी सी वात है। सन्देश भी कुछ इने-गिने छन्दों में काव्य की समाप्ति पर कहा जाता है। पर उत्तम पुरुष में कही जाने वाली काव्य की इस कहानी में, जिसके यक्ष और मेघ दो ही पात्र हैं, कवि कहीं नहीं वोलता, वह अन्तराल में गुप्त है। हिमालय और विन्ध्यगिरि के वीच वसे देश का समस्त रमणीक भूगोल, ज्वलन्त इतिहास, सांस्कृतिक रस-धारा जीवन की सजग स्मृतियां जहां ही तहां क्रमोच्छेद-पद्धति में उमड़ पड़ती हैं। और आज लगभग दो हजार वर्ष के अनन्तर भी इस देश का सहृदय पाठक जब इस काव्य को पढ़ता है, उसकी आत्मा यक्ष और मेघ में विलीन होकर अपना अस्तित्व खो वैठती है। मेघदूत की इस सामर्थ्य और सफलता की कुंजी का उद्‌घाटन अनेक आलोचकों ने किया है। तो भी हम समझते हैं कि यह उत्तमपुरुषात्मक कथाशिल्प की ऐसी कहानी है, जो वहां से आरम्भ होती है जहां समाप्ति हो रही है, कवि इसके अन्तराल में छिप गया है, कहीं नजर नहीं आता है, तथा केवल यक्ष की आत्मनिष्ठता में वर्षाकाल का वर्तमान जिस चेतना का प्रवाह करता है, उसमें विन्ध्य से हिमालय तक के भूगोल की समस्त रमणीकता इतिहास के मधुर सन्दर्भों के साथ क्रमोच्छेद पद्धति में उमड़-उमड़ पड़ती है। यक्ष भारतभूमि का हृदय वन जाता है, यही इस रचना की सफलता का रहस्य है। यही 'मेघदूत' को सदा के लिए अजर-अमर वनाने की संजीवनी है और यह सत्य है। हमारे मूर्धन्य आलोचक के सिद्धान्त की सच्चाई का वह साक्ष्य, जो इतिहास के वहुत पीछे पर्दे में छिपा है। इसीलिए कहता हूं कि उपाध्याय जी के सिद्धान्त कालातीत सत्य का उद्‌घाटन करते हैं।

---

५ | अनासन्न लेखकत्व

साहित्य के क्षेत्र में 'आसन्न लेखकत्व' का अभिप्राय वही है, जो दर्शन के क्षेत्र में ईश्वर के लिए ऋषि ने कहा है। तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् अर्थात् वह ईश्वर अपनी सृष्टि रच कर उसी में विलीन हो गया। इसका दूसरा अर्थ यह हुआ है कि सृष्टि अपने कर्ता का ही अपर अवतरण है। अतः जब सृष्टि है तब कर्ता अलग नहीं रहेगा, वह उसी में व्याप्त होगा। कर्ता के विलय धर्म की यह महानता ही अपने अनुपात में कर्तृत्व की विराटता की सूचक होती है। किसी कवि, कथाकार नाट्यकार या आलोचक के कृतित्व की अमरता भी इसी बात पर निर्भर है कि उसने अपनी कृति से अपने को कहाँ तक मिटा रखा है। अतः, "अनासन्न लेखकत्व" का विषय कवि-शिक्षा का प्रमुख अंग हुआ। भारतीय साहित्य शास्त्र में प्रकारान्तर से इस विषय की ओर संकेत तो अवश्य हुआ है पर एक भिन्न विषय के रूप में न इसकी चर्चा की गई है और न व्याख्या ही है। ऐसे कुछ विषयों को अलग-अलग निरूपित किया गया है जो 'अनासन्न लेखकत्व' की एक ही संज्ञा में गतार्थ हो सकते हैं। डा० उपाध्याय ने इस विषय की नवीनता की ओर ध्यान दिया है और कई प्रसंगों में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। यद्यपि उन्होंने कथा के क्षेत्र में ही इसकी उपलब्धि पर टिप्पणी की है पर यह साहित्य की प्रत्येक विधा का ही सत्य है।

'अनासन्न लेखकत्व' का विलोम है— 'आसन्न लेखकत्व'। इस 'आसन्न लेखकत्व' की व्याख्या से 'अनासन्न लेखकत्व' को भली-भांति समझा जा सकता है। 'आसन्न लेखकत्व' कर्तृत्व की...हीनता का द्योतक है। व्यक्ति-कुण्ठा तथा हीन ग्रन्थि भी इसी की अर्थसीमा में है। और 'अनासन्न लेखकत्व' कर्तृत्व की महान् क्षमता का उदय है। 'आसन्न लेखकत्व' का अर्थ है कि रचना-गत पात्र को तथा उसके पाठक को कुछ सोचने का कुछ क्षण तन्मय होने का अवसर न मिले, सर्वथा उनको लेखक की दृष्टि से ही उपस्थित होना पड़े—

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में आसन्न लेखकत्व की प्रधानता थी। लेखक पग-पग पर वातावरण के साथ था, उसकी दृष्टि सब ओर रहती थी, वह सर्व-व्यापी और सर्वज्ञ था।"[1] इसे और भी स्पष्ट किया जा सकता है—'स्पष्ट है कि पहले के उपन्यासों में जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, वह एक सर्वसमर्थ तथा सर्वज्ञ लेखक का दृष्टिकोण है। अन्यपुरुषात्मकता, सर्वज्ञता, व्याख्यात्मकता, चरित्र की पिंडीभूत–घनीकृतता, वर्णन की विशालता—ये सब नियम वहीं चल सकते हैं, जहां पूर्ण राजतन्त्र हो, राजा की आज्ञा ही कानून हो। जहां पात्र और पाठक दोनों को बोलने का कोई अधिकार न हो।"[2] यह 'आसन्न लेखकत्व' की व्यवस्था है और उसकी विपरीत स्थिति 'अनासन्न लेखकत्व' का विराट् धर्म है।

रचना में 'आसन्न लेखकत्व' का अवांछित सहयोग पाठक को उपलब्धियों से वंचित कर देता है, पाठक की स्वयं की दृष्टि का उन्मीलन ही नहीं होने देता। और पाठक यदि अत्यन्त प्रबुद्ध है तो वह ऐसी रचना का तिरस्कार कर देगा। उपाध्याय जी लिखते हैं—"यदि लेखक किसी ऐसी चीज को स्थान देता है जिसे कोटेशन मार्क के अन्दर नहीं रखा जा सकता तो परिणाम यह होगा कि लेखक की छाया उपन्यास के क्षेत्र में घूमती हुई नज़र आने लगेगी। पाठक यह बात जान जाएगा कि कथा और उसके बीच में लेखक आ गया है। वह कथा को अपनी आँखों से नहीं देख रहा है। उसकी हालत उस अन्धे धृतराष्ट्र की तरह है जो पांडवों और कौरवों में होने वाले महाभारत को स्वयं तो नहीं देख सकता परन्तु वह लेखकरूपी संजयोच्चारित युद्ध का वर्णन सुन रहा है। कहने का अर्थ यह है कि पाठक महसूस करने लगेगा कि कथा के सम्बन्ध में जो कुछ उसे ज्ञान प्राप्त हो रहा है वह प्रत्यक्ष नहीं है, फर्स्ट हैंड नहीं है किन्तु अपरागत है, सैकण्ड हैंड है। वह लेखक या वह कृति जो पाठकों को अन्धे बनाने की, दृष्टिहीन होने की परिस्थिति में ला देती है, उससे पाठक को असन्तुष्ट होना स्वाभाविक है। पहले के पाठक वर्ग को आंखें थीं नहीं। वह प्रबुद्ध नहीं था, वह दूसरों की कही हुई बातों को सही मान लेता था। अतः उसके लिए उपन्यासकार की मध्यस्थता में कोई खटकने वाली बात नहीं थी। परन्तु आज का पाठक प्रबुद्ध है, उसकी आंखें खुल गई हैं। वह दूसरों के कहने पर नहीं जाता। स्वयं देख-कर कोई निर्णय करना चाहता है। अतः उपन्यासकार की यह मध्यस्थता उसे

१. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० १४४
२. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १४५

बुरी लगती है।"[1] यहां आज के तथा पूर्व के पाठक से डा० उपाध्याय का अभिप्राय आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठकों तथा पहले के अन्य पद्धति के उपन्यास के पाठकों से है। पूर्व के पाठक का तात्पर्य प्राचीन भारतीय साहित्य के सहृदय पाठकों से नहीं है।

'अनासन्न लेखकत्व' अपनी व्यापकता से साहित्य के कई सिद्धान्तों का संस्पर्श करता है। उसकी यह प्रसरण-विभुता उसकी लेखक-विषयक सहज धर्मनिष्ठता के कारण है। 'अनासन्न लेखकत्व' कवि की उस क्षमता का पर्याय है जो क्षमता उसमें सहज प्रतिभा तथा अभ्यास के संयोग से कर्तृत्व की अदम्य आकुलता लेकर अवतरित होती है। स्वयं डा० उपाध्याय जी के कुछ निरूपित विषय इस 'अनासन्न लेखकत्व' की पृष्ठभूमि में और अधिक निखर आते हैं। पर इससे भी अधिक महत्व हमें इस निरूपण का वहां दिखाई पड़ता है जहां अभिनव गुप्त और मम्मट के निरूपित काव्य-रसास्वादन विषयक समस्या समाधान में कुछ केवल इसी एक प्रकरण के भिन्न-भिन्न अंग हैं, अंग न भी हों तो इस परिभाषा में उनकी मीमांसा अधिक सुगम हो जाती है—

(१) पहली बात यह है कि मम्मट ने कवि-कर्म को रसाङ्गभूत-व्यापार की प्रवणता के कारण सर्वथा विलक्षण बताया है। यह प्रवणता ऐसी है कि अपने आस्वादन के आनन्द के समानान्तर ही शेष सभी ज्ञेय वस्तु के ज्ञान को तिरोहित कर देती है (विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्)। इसीलिए वह शब्द-प्रधान वेद आदि शास्त्रों से तथा अर्थ तात्पर्य-प्रधान पुराण, इतिहास आदि रचनाओं से भिन्न है।[2] यहां पर यह 'विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्' कवि-कर्म (काव्य) की स्थिति का आकलन है। अतः, अपने कर्त्ता कवि के लिए भी अपने आप सिद्ध है। 'विगलित वेद्यान्तर' की सुलझी हुई संज्ञा 'अनासन्न लेखकत्व' है।

इसी प्रकरण में आगे मम्मट ने यह भी लिखा है कि यह काव्य, राम आदि की तरह व्यवहार करना चाहिये, रावण आदि की तरह नहीं—इस प्रकार के उपदेश में भी कवि और सहृदय को नियुक्त करता है। उनका यह कथन पहले के व्याख्यान, 'विगलितवेद्यान्तरम्' के विपरीत हो जाता है। जब कवि अपने रचना-काल में ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान को तिरोहित कर प्रवृत्त होगा तब उसे राम-रावण के भेद की चिन्ता क्यों होगी? वह तो एकमात्र मनोभाव के सत्य (आनन्द) में डूबा रहेगा। मनोभाव का यह आनन्द उपदेश

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १३०

२. देखिए, काव्यप्रकाश, १।२ की वृत्ति

से बहुत आगे का सोपान है। वह एक समान राम-रावण दोनों में स्थित होगा। ऋषि वाल्मीकि ने अपने काव्य में रावण की भी प्रशंसा की है। इस समस्या का व्याख्यान तब अधिक सुगम हो जाता है जब हम 'अनासन्न लेखकत्व' के सिद्धांत को स्वीकार कर लेते हैं।

(२) अभिनव गुप्त के अनुसार साधारणीकरण का व्यापार देश, काल आदि के संस्पर्श से रहित (अनालिंगित) होता है। वह तभी पुष्ट होता है जब देश, काल, प्रमाता आदि नियमों के बन्धन अत्यन्त-रूप से दूर कर दिये जाते हैं। (देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति)। इसका यह भी अर्थ है कि अभिनय में ऐसे किसी विषय वस्तु का संनिवेश नहीं होना चाहिये जो प्रवाहित होती कथा की धारा को भंग कर दर्शक के तन्मयीभवन को शिथिल कर दे। थोड़े संशोधन के साथ काव्य और उसके पाठक के सम्बन्ध में भी देश-काल के इस नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। विषय-वस्तु का सहज होना ही रचना की उज्ज्वलता एवं अनविष्णुता का प्रमाण है। प्राचीन पौराणिक कथाओं के बीच में चरखा कातना, कुटीरोद्योग, अहिंसा द्वारा दुर्वृत्तियों की विजय का चित्रण आदि वर्तमानकालिक विषय-वस्तुओं का निबन्धन पाठक को कथा के मूल आस्वादन से वंचित कर देता है। यह लेखक की अक्षमता अर्थात् रचना में 'आसन्न लेखकत्व' है। जिसका अभिनय किया जाता है वह नाटक और जो केवल पढ़ा जाता है वह काव्य दोनों में तल्लीनता की स्थिति तभी आएगी जब उनका मूल रचनाकार कवि देश-काल से अनियंत्रित होगा। अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण भाव में देश-काल से अनालिंगित होने का जो प्रश्न उठाया है, वस्तुतः वह प्रश्न साधारणीकरण का नहीं, मूल स्रष्टा कवि का है। यदि कवि ही देश काल से नियन्त्रित होकर रचना में प्रवृत्त होता है तो साधारणीभाव का व्यापार कभी देश-काल से अनालिंगित नहीं रह सकता।

हम इस प्रश्न को यदि कुछ और विस्तृत भूमि में समझने का उपाय करें तो एक बात सामने आती है, वह यह है कि संस्कृत के मूर्धन्य कवियों में देश काल से अनियन्त्रित होने की क्षमता अत्यन्त तीव्र रूप से पायी जाती है। कालिदास का 'रघुवंश' हो अथवा श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' यदि कवि के इतिहास का हमें ठीक-ठीक पता न हो तो इन रचनाओं को इतिहास के किसी युग में रखा जा सकता है और ये रचनाएं बिना किसी विकार के वहाँ अपना आसन जमा लेंगी। यही है रचनाकार का 'अनासन्न लेखकत्व'। किन्तु हिन्दी में अनेक रचनाएं ऐसी हैं जो बहुत साफ बतला देती हैं—मैं दस

वर्ष पहले की हूं, मैं दस वर्ष बाद की। केवल प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही 'आसन्न लेखकत्व' नहीं है। 'साकेत' और 'कुरुक्षेत्र' भी पन्ना खोलते ही गांधी युग की रचना होने का उद्घोष करते हैं। देश, काल का यह आत्यन्तिक नियन्त्रण भी 'आसन्न लेखकत्व' का एक पक्ष है, जो रचना की अजरता तथा सार्वभौमता को नष्ट कर देता है। रीतिकाल के कितने कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों का उदाहरण रचकर अलंकार शास्त्र का निबंधन किया था। वह उपेक्षित तो हो ही गया है, पर यदि उसको पढ़े तो वह दुर्बोध भी प्रतीत होगा। संस्कृत के दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने भी राज्याश्रय ग्रहण किया था पर उन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय उदाहरणों में कहीं आश्रयदाता की प्रशस्तियां नहीं गाई हैं। उनमें 'अनासन्न लेखकत्व' का सहज धर्म था, इसीलिए उनकी रचनाएं आज तक अजर हैं, पढ़ी जाती हैं और आनन्द का बोध उड़ेल देती हैं। उनकी क्षमता काल बीतने के साथ और भी तीव्र होती जा रही है। उनमें शाश्वत मूल्य है।

'आसन्न लेखकत्व' की अक्षमता रचना को कुछ का कुछ बना देती है। उपन्यास नाटक बन जाता है, नाटक उपन्यास। काव्य कहीं दर्शन, कहीं इतिहास का रूप ले लेता है। अर्थात् सर्वत्र साहित्य की अवतारणा होते-होते रह जाती है। डा० उपाध्याय ने इस स्थिति को लक्ष्य कर लिखा है—"यही कारण है कि आज का उपन्यास नाटकीय होता जा रहा है। नाटकीय होने का अर्थ यह नहीं कि उपन्यास पूर्णरूपेण नाटक बन जाता है। नहीं, नाटक उपन्यास का सीमाबिन्दु है। शायद उपन्यास के दो और सीमाबिन्दु होते हैं–आत्मकथा और निबन्ध। इन तीनों साहित्यविधाओं के क्षेत्र में जब तक उपन्यास नहीं पदार्पण करता तब तक वह अपने स्वरूप की रक्षा कर लेता है। परन्तु जहां वह इन क्षेत्रों में प्रविष्ट हुआ, वहां उसे दूसरा रूप धारण करना पड़ेगा। यह ठीक भी है, क्योंकि जब हम किसी दूसरे देश में प्रवेश करते हैं तो अपनी मान्यता के लिए हमें अपने रूप का परिवर्तन करना ही पड़ता है।"[1] रूप परिवर्तन की यह स्थिति तभी आती है जब उपन्यासकार अपनी रचना में मध्यस्थ का काम करता है, रचना में लय न होकर ऊपर विराजमान होता है।

(२) 'आसन्न लेखकत्व' का सिद्धान्त 'आसन्न दर्शकत्व' अथवा 'आसन्न पाठकत्व' के रूप में भी उपस्थित होता है। अभिनव गुप्त ने रसास्वादन में सात प्रकार के विघ्नों के उपस्थित होने की सम्भावनाएं बताई

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १३०

हैं, जिनका अभाव होने पर ही रस की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति हो पाती है। उन सात विघ्नों में तीन ये हैं—

१. सामाजिक अथवा नट में देश, काल का विशेष सम्बन्ध (स्वगत-परगतत्व-नियमेन देशकाल-विशेषावेश:), २. सामाजिक का अपने सुख आदि के वशीभूत होना। ३. अप्रधानता—इसका अभिप्राय यह है कि स्थायीभाव ही चर्वणा के योग्य होता है। अतः, जब स्थायीभाव को गौण स्थान देकर अचेतन विभाव-अनुभावों में तथा ऐसे व्यभिचारिभावों में, जो दूसरे स्थायीभाव का मुँह ताक रहे हों, अभिनयन-व्यापार प्रधान दृष्टि से उन्मुख होता है तब रसास्वादन की स्थिति अपने आप भंग हो जाती है। विघ्न के इन तीनों प्रकारों की अधिक सुगम व्याख्या "अनासन्न नटत्व" या 'अनासन्न दर्शकत्व' में हो सकती है, सिद्धान्त वही है। लेखक के स्थान पर नट या दर्शक को रख कर उसका समीक्षण किया गया है। संज्ञा को व्यापक रखने के लिए उसे 'अनासन्न कर्तृत्व' भी कहा जा सकता है।

नट अथवा सामाजिक देशकाल विशेष से उन्मुक्त होकर अभिनय-दर्शन में प्रवृत्त हों, या दर्शक-सामाजिक नाटक देखने के समय अपने किसी विशेष सुख, दुःख के वशीभूत न हों—आदि का अधिक स्पष्टार्थ केवल यही है कि वे अपने में, अपने व्यक्ति में आसन्न न हों; नहीं तो उनकी रचना, उनका मानसिक भोगीकरण (भोगीकरण कहने का अभिप्राय यह है कि रसास्वादन भी एक कर्तृत्व है), विकृत हो जायेंगे। उनके कर्तृत्व का सहज परिस्पंदन तभी होगा जब वे अपने व्यक्ति में अनासन्न होंगे।

इसी प्रकार अप्रधानता का भी प्रश्न है। चर्वणा के पात्र स्थायीभाव को गौण कर अचेतन विभाव-अनुभावों अथवा अन्यत्र उन्मुख व्यभिचारिभावों में अभिनयन-व्यापार की प्रवृत्ति दो स्थितियों का द्योतक है—या तो कर्तृत्व में तन्मयता नहीं है वह अपने व्यक्ति में आसन्न हो गया है अथवा स्थायीभाव को जो चर्वणा का पात्र है यदि गौणता प्राप्त हो रही है तो उसमें ही आसन्न-कर्तृत्व आ गया है। अतः रसास्वाद में अप्रधानता विघ्न भी अलग-अलग अस्तित्व का विषय नहीं है वह 'अनासन्न कर्तृत्व' (अनासन्न लेखकत्व) में समाहित है।

अभिनव गुप्त के रसास्वादन-विषयक तीन विघ्नों की व्याख्या 'अनासन्न-कर्तृत्व' के एक ही प्रकार में हो जाती है।

'अनासन्न लेखकत्व' की व्याप्ति के और भी प्रसंग संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ढूंढे जा सकते हैं। डा० उपाध्याय के निरूपित सिद्धान्तों में भी कहां कहां यह उनका एक उज्ज्वल पक्ष है, इसका भी परीक्षण किया जा रहा है—

(१) 'कविता के मूल स्रोत' अध्याय में कवि के विराट् व्यक्तित्व के निर्माण पर प्रकाश डाला गया है। जैसे वसन्त ऋतु याचक बनकर अपने सभी डाल पत्तों का अर्पण कर नये पल्लवों का मनोहर संसार पा जाता है, कवि भी अपने व्यक्तित्व के लिए विश्व की रमणीयता के सामने याचक बनता है, रमणीयता उसमें ऐसी अवतरित होती है कि उसका निज का व्यक्तित्व उसमें तिरोहित हो जाता है, तब पुनः कला रमणीयतामय कवि के व्यक्तित्व के सामने अपने आकार के लिए याचक बनती है और कवि सर्वात्मना कला के लिए समर्पित हो जाता है। कवि जब याचक बनता है तब, और जब दाता बनता है तब दोनों—अवस्थाओं में ही उसे अपने व्यक्ति की चिन्ता नहीं रहती है। वह सर्वात्मना ही समर्पित होता है—यही **'अनासन्न लेखकत्व'** का दिव्य पक्ष है। अतः आलोचक डा० उपाध्याय साहित्य की ओर न देखकर साहित्यकार की ओर देखते हैं। उन्होंने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तथा शैक्सपीयर के 'हैमलेट' के विलक्षण कृतित्व की चर्चा कर विचार की इस दिव्यता की ओर संकेत किया है—**"हम 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' या 'हैमलेट' को न देखकर कालिदास और शैक्सपीयर को देखते हैं। उनके मानसिक क्षितिज के विस्तार को देखते हैं। उसकी कल्पना तथा हृदय की गहराई को देखते हैं। नहीं तो 'हैमलेट' या 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दोषों की क्या कमी है?.... तिस पर भी किसी रहस्यमयी प्रक्रिया के द्वारा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' एवं 'हैमलेट' का आदर बढ़ता ही जा रहा है? कारण कि इन पुस्तकों के पढ़ते समय हम एक महान दिव्य मस्तिष्क के सम्पर्क में आते हैं और स्वयं भी अपने में दिव्यता की अनुभूति पाते हैं।"**[1]

(२) डा० उपाध्याय ने यह लिखा है कि—**'प्रत्येक लेखक की यह भावना होती है कि वह जो चीज कहना चाहता था कह नहीं सका।'** उन्होंने **शेक्सपीयर का उदाहरण दिया है—"एक था यहूदी शाइलक, जो सूदखोर था। एक था वह जो शेक्सपीयर के आक्रोश, घृणा, विद्वेष का शिकार था और शेक्सपीयर ने जिसकी अच्छी खबर लेनी चाही थी। एक था वह जो शेक्सपीयर के आक्रोश के चंगुल से निकल कर उसे बुत्ता देकर निकल गया और लोगों के स्नेह का भाजन बना। इतना भाजन बना कि लोगों ने कहना**

१. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ८०-८१

शुरू किया—शाइलक इतना अपराधी नहीं, जितना उसके विरुद्ध अपराध किया गया था। शेक्सपीयर को अपनी रचनाओं पर कुछ कहने का अवसर मिला या नहीं, अथवा यदि उन्हें कहने का अवसर मिलता भी तो वे क्या कहते, यह कह सकना असम्भव है। पर प्रत्येक लेखक की यही भावना होती है कि वह जो चीज कहना चाह रहा था, वह नहीं कह सका।[1]" हिन्दी के कथाकार अश्क तथा अज्ञेय ने भी अपनी–रचना के सम्बन्ध में ऐसे विचार प्रकट किए हैं अर्थात् वे उपन्यास को कुछ चाहते थे, वह कुछ का कुछ बन गया। आलोचक उपाध्याय ने पुनः इस पर टिप्पणी की है—'ऐसा लगता है कि मूल प्रेरक वस्तु और कवि में वध्य-व्याधा, अथवा आखेट-आखेटक का सम्बन्ध है। कवि वस्तु को पकड़ना चाहता है और वस्तु पकड़ में आना नहीं चाहती। इसी कशमकश में, संघर्ष में जो एक चिनगारी निकलती है, वही Irny का रूप धारण करती है और वहीं पर साहित्य का जन्म होता है।'[2] संघर्ष का अन्तिम परिणाम साहित्य का जन्म तो हुआ परन्तु डा० उपाध्याय ने यह स्पष्टीकरण नहीं किया कि पराजित कौन हुआ वस्तु या कवि ? हम स्पष्टीकरण कर रहे हैं, वस्तु के पराजित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहीं से कवि को अपना जीवन मिलता है। अतः, संघर्ष की आत्यन्तिक स्थिति में किसी मधुर क्षण में कवि ही वस्तु में विलीन हो जाता है। प्रकारान्तर से यह उसकी विजय होती है, क्योंकि वस्तु में प्रवेश पा जाना कोई साधारण बात नहीं है। असाधारण क्रिया है। इसे ही 'अनासन्न लेखकत्व' कहते हैं। यह असाधारण क्रिया न हुई तो रचना में 'आसन्न लेखकत्व' का दोष आ जाता है।' आसन्न लेखकत्व' का ही पर्याय कालिदास के 'शिथिल समाधि' प्रयोग को कहा जा सकता है।[3]

पर इस असाधारण क्रिया के रहते हुए भी, जबकि कर्ता में 'अनासन्न कर्तृत्व' है, रचना समग्र क्यों नहीं हो पाती ? रचनाकार क्यों कहता है कि मैंने जो सोचा था वह नहीं बन पाया, रचना कुछ की कुछ हो गई। वास्तव में यह सत्य वस्तुस्थिति है। जब रचनाकार अनासन्न हो गया, तब रचना की प्रक्रिया पर उसका तन्त्र कैसे स्थित होगा ? तन्त्र तो वस्तु का, उस सामग्री का होगा, जिससे निर्मित की जा रही है। वस्तु के अनुसार निर्मिति समग्र होगी। कवि के अनुसार भी जब वह 'अनासन्न लेखकत्व' की स्थिति में था,

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. १९१
२. मालविकाग्निमित्रम् २।२
३. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥

रचना समग्र ही है, यह तो जब वह अपनी समाधि अवस्था (अनासन्न लेखकत्व की स्थिति) से मुक्त होकर अपने पूर्व व्यक्तित्व में स्थित हुआ, तब से उसे लगा कि मैंने जो सोचा था, वह नहीं रचा जा सका। अगर कवि 'अनासन्न लेखकत्व' की स्थिति में न होता तो वह रचना के समग्र होने की नियम पूर्ति करता, यह नियम-पूर्ति केवल दिखावे की, मिसाल की होती है, उससे रचना में प्राण नहीं आ सकते हैं।

सत्य बात यह है कि कोई भी असाधारण रचना समग्र अवयव नहीं होती। कालिदास ने लिखा है कि उनके महाकाव्य 'रघुवंश' के नायक दिलीप की रचना ब्रह्मा ने निश्चय ही पांच महाभूतों की समाधि से की थी इसीलिए दिलीप के सभी गुण पांच तत्वों की भांति प्रजा के उपकार से अतिरिक्त अपनी कोई प्रवृत्ति नहीं रखते थे—

तद्वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।
तथाहि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः॥

यह ब्रह्मा स्वयं कवि कालिदास है, जो अपने वर्ण्य नायक की इस उच्च स्थिति को विभोर होकर गा रहा है। उसने और भी कहा है कि यह दिलीप यज्ञ के लिए पृथ्वी से अन्न लेता था और इन्द्र अन्न सम्पत्ति के लिए ही आकाश से जल बरसाता था, इस प्रकार ये दोनों विनिमयपूर्वक दोनों लोकों को धारण किए हुए थे। और दिलीप के पूर्वज भी पूरे प्रजापति थे—विधि के अनुसार अग्नि में हवन करने वाले, अर्थियों को पूर्णकाम करने वाले, अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले तथा यथाकाल अपने कर्तव्य का बोध रखने वाले। पर नायक की पूर्णता में एक कमी आ गई, उसे यथाकाल पुत्र की प्राप्ति न हुई। और कथा की सृष्टि आगे चली। कवि के लिए सृष्टि का नया सोपान उघार आया। दिलीप ने गुरु की गाय नन्दिनी की सेवा का व्रत लिया, सिंह ने उनकी परीक्षा ली; उन्हें पुत्र का वरदान मिला और रघु जैसा पुत्र पैदा हुआ जिसने इन्द्र से लोहा लिया आदि आदि। अतः रचना की समग्रता अपनी न्यूनता में नई रचना का बीज छिपाए रहती है, तथा प्रत्येक सर्व-समर्थ रचनाकार इस समग्रता एवं न्यूनता के संगम में अपने को खोए रहता है, यही उसका 'अनासन्न लेखकत्व' है।

(३) 'अनासन्न लेखकत्व' का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि रचनाकार अपने व्यक्ति से छूटकर, काल की पकड़ से बाहर आकर अपनी छोटी ही रचना-अवधि में असीमित काल को समेट लेता है। लघु अवधि में

असीमित काल को समेटने का जो विलक्षण व्यापार होता है वह तीव्रतर सक्रियता को जन्म देता है, जिससे संजीवन से भरी पूरी रचना जन्म लेती है। लेखक अपना उत्सर्ग कर काल की सत्ता मिटा देता है। काल की सत्ता मिटाने का यह कार्य लेखक के उत्सर्ग से उत्पन्न वे पात्र करते हैं जिनमें प्रबल संवेग और महाप्राण की प्रतिष्ठा हो उठती है। डा० उपाध्याय जी एक स्थल पर लिखते हैं—महत्व इस बात में नहीं है कि काल पात्र को क्या बनाता है, उस पर क्या प्रभाव डालता है। महत्व इस बात का है कि इस छोटी-सी अवधि को पात्र क्या बनाता है। क्या वह इतने प्राणावेग से जीता है कि ये ही चार दिन एक महान जीवन का प्रतिनिधित्व करने लगें ? क्या बूंद में वाडव का दाह छिपा है ?···हमारे सामने दो उपन्यास हैं गोदान, शेखर–एक जीवनी। होरी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, शेखर को भी मरा ही समझिए। प्रातः ही उसे फांसी पर लटक जाना है। होरी को हमने धीरे-धीरे मरते देखा है। वह दातादीन के खेत में कुदाल चलाते हुए ही नहीं मरा है, वह इसके पहले भी कई बार इस मृतप्राय अवस्था को प्राप्त हुआ है। अन्तर इतना ही है कि इस बार उसकी काया को जो सांस छोड़ गई वह फिर से लौटकर नहीं आई।......मृत्यु सबको निगल जाती है। उसने होरी को भी निगल लिया है। पर ऐसा नहीं लगता कि जिस समय मृत्यु ने उसे घेर लिया था, यह वही समय था जबकि होरी की जीवनी शक्ति अपने पूरे आवेग से सक्रिय थी और मृत्यु से लोहा ले रही थी। ऐसा नहीं लगता कि होरी मर भले गया हो पर हारा नहीं है। होरी भले ही मरे पर पाठक में तो जय के भाव भरे, ऐसी धारणा उपन्यास के पढ़ने से नहीं बंधती।........पर शेखर की बात दूसरी है। एक तो वह मरा नहीं। मरने वाला है। कौन जानता है मरेगा या नहीं। हम तो यही जानते हैं कि उसके जीवन के जो कुछ घण्टे बचे हैं उतने में ही उसका जीवन इतने प्रबल वेग से सक्रिय हो गया है कि सारा विश्व ही वहां सिमट कर आ गया है। मृत्यु आई है भले ही पर जीवन को जमाने के लिये शेखर फांसी पर झूलेगा। पर पाठक जब फांसी के दृश्य को देखकर लौटेगा तो उसके हृदय में विजय के भाव होंगे। एक शेखर मरेगा पर हजारों पाठक जयकी भावना से संवलित होंगे।'[1]

इन दृष्टान्तों से क्रमशः 'आसन्न लेखकत्व' और 'अनासन्न लेखकत्व' की उपलब्धियों का एक सामान्य आकलन हो जाता है। लेखक अपने को मिटाकर अनासन्न होकर पात्र की आत्मा में प्रवेश करता है तथा एक सर्वथा

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास और मेरी मान्यताएं, पृ० १०४-१०५

नये देश, काल और वातावरण के साथ अवतरित होता है। काल में नये काल की यह अवतारणा-प्रक्रिया 'अनासन्न लेखकत्व' का एक पक्ष है।

(४) डा० उपाध्याय ने लिखा है कि आत्मकथात्मक पद्धति अथवा उत्तम पुरुष में डायरी के ढंग पर लिखे गये उपन्यासों में अनेक वैशिष्ट्य अपने आप आ जाता है—"दोष से बचने के लिए उपन्यास कला ने सीमित दृष्टिकोण वाली शैली का आविष्कार किया। उसमें कथाकार अपने को तीन चार पात्रों तक ही सीमित कर लेता है और कथा का उतना ही भाग सामने आता है जिसका ज्ञान इन लोगों के लिए सम्भव था। यही सीमित दृष्टिकोण वाली शैली आगे विकसित होकर आत्मपुरुषात्मक का, जिसे उत्तम पुरुषात्मक कहा गया है, रूप ले लेती है। परिणाम यह होता है कि कथा में कसावट आ जाती है। पात्रों की अधिकता नहीं होने पाती। एक व्यक्ति कितने ही व्यक्तियों के सम्पर्क में आवे भला। कथा–शरीर पर पड़े रहने वाले झाड़ झंखाड़ स्वयं छंट जाते हैं और उपन्यासकला समृद्ध होती है।[1]

यहां यह उल्लेख हुआ है कि सीमित दृष्टिकोण वाली शैली आगे विकसित होकर आत्मपुरुषात्मक का रूप ले लेती है। पर ऐसा संजीवन सीमित दृष्टिकोण भी ऐसे नहीं आ जाता। उसके मूल में 'अनासन्न लेखकत्व' की स्थिति होती है तभी ऐसे दृष्टिकोण और उसके उत्तम पुरुपात्मक विकास की ललित सम्भावनाएं होती हैं। उत्तम पुरुष में कथा के अवतरित होने का अर्थ ही है कि वहां अब लेखक नहीं है, उसका व्यक्ति विलीन हो चुका है। अन्य पुरुपात्मक कथा में ही लेखक के व्यक्ति को ऊपर प्रकट होकर अपना मन्तव्य तथा अपनी मानसिक क्रियाएं पात्र पर लादने के विस्तृत अवकाश होते हैं, जो 'आसन्न लेखकत्व' की स्थिति होती है। उत्तम पुरुपात्मक कथा-शिल्प के जन्म में 'अनासन्न लेखकत्व' एक महत्वपूर्ण भूमिका है। ऐसा नहीं है कि इस उत्तमपुरुषात्मक कथा में लेखक का पता नहीं रहता है, वह विद्यमान रहता है पर अपनी धरती की आकर्षणशक्ति से बाहर होकर भारविहीन, अत्यन्त लघु और बहुत ही संवेगशील हो जाता हैं। वह केवल प्रकाश जगाने का काम करता है, स्वयं प्रकाश नहीं बनता; जिस पात्र, देश या वस्तु को छूना है, वही बिजली के बल्ब की तरह चमक उठता है। उत्तम पुरुपात्मक कथा-शिल्प में 'अनासन्न लेखकत्व' का सर्वथा प्रखर रूप सामने आता है।

अब प्रश्न यह है कि 'अनासन्न लेखकत्व' की यह महती शक्ति कहां से अर्जित की जाती है। यह तो कवि-शिक्षा का विषय है। साहित्यकार के

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८१

अपने निर्माण की प्रक्रिया है। यहां यह समझ रखना चाहिये कि साहित्यकार के निर्माण की प्रक्रिया यह है तो अवश्य, पर अनजान में ही घटित होती है।

अन्यत्र डा० उपाध्याय ने सृजक को आदिम मनोवृत्यापन्न कहा है—"सभ्यता ने बहुत से परिवर्तन उपस्थित कर दिए हैं, प्राचीन से सर्वथा भिन्न। पर ये परिवर्तन सब बाहरी आवरण में हैं। मानव का मौलिक रूप ज्यों का त्यों है। कालिदास के मेघदूत के यक्ष की बात सब को याद होगी। यक्ष आदिम मानव नहीं था, सभ्य था; सभ्य ही नहीं अतिसभ्य था, कृत्रिमता की सीमा तक पहुंचने वाला। यक्ष की निवासभूमि अलकापुरी का जो वर्णन कालिदास ने किया है कि वहां लोगों के नयन-सलिल आनन्दोत्थ ही होते हैं, यदि कोई ताप था तो कुसुमशरजादिष्टसंयोग-साध्य ही होता था, प्रणय कलह के सिवा और कोई वियोग नहीं था, यदि कोई अवस्था थी तो जवानी ही, निश्चय ही यह आदिम युग का सूचक नहीं है। पर इस सभ्य यक्ष ने भी जब रामगिर्याश्रम में मेघों को उमड़ते हुए देखा तो 'अन्यथावृत्तिचेत' हो गया। *कहिए, आदिम मनोवृत्यापन्न हो गया।* वह मेघ के द्वारा ही अपनी *प्रिया* के पास सन्देश भेजने के लिए तत्पर हो गया। कारण कालिदास ने बतलाया है, उन्होंने कामार्त को चेतनाचेतन विवेक में प्रकृतिकृपण कहा है, और मैंने सृजक को आदिम मनोवृत्यापन्न कहा है।[1]

यक्ष का 'अन्यथावृत्तिचेतः' होना अथवा सर्जक का आदिम मनोवृत्यापन्न स्थिति में आना एक ही बोध के दो पर्याय हैं। और यही है वह अनजान क्षण, जिसमें साहित्यकार के अपने निर्माण की प्रक्रिया सक्रिय हो जाती है और वह 'अनासन्न-लेखकत्व' की उपलब्धि में वर्तमान होता है। इस प्रक्रिया या सक्रियता के भी दो पक्ष अथवा दो समानान्तर रेखाएं होती हैं—

१. आनन्द की स्वाभाविक प्रवृत्ति। तथा
२. रहस्य-दर्शन की अदम्य जिज्ञासा।

इन दो पक्षों पर टिप्पणी करने के पूर्व तनिक आचार्य मम्मट की कवि-निर्मिति (रचना) पर भी दृष्टिपात कर लिया जाये। उन्होंने विलक्षण कवि-निर्मिति के जो चार विशेषण दिये हैं उनमें दो ये हैं—१. ह्लादैकमयी, २. अनन्यपरतन्त्रा। ह्लादैकमयी का अर्थ है—आनन्द ही जिसका सर्वस्व है, स्वभाव है। तथा अनन्यपरतन्त्रा अर्थात् अन्य कारण आदि से जिसके कर्तृत्व

1. सम्मेलन पत्रिका, भाग ५४, संख्या ३, ४ में डा० देवराज उपाध्याय का लेख—ज्ञान और विज्ञान के सन्दर्भ में सृजन-प्रक्रिया, पृ० ९९

का सम्बन्ध नहीं है, दूसरे शब्द में जिसमें नैसर्गिक सर्जनशीलता विद्यमान है। डा० उपाध्याय ने इसे ही रहस्यदर्शन की वृत्ति कहा है—'रहस्यदर्शन सृजन की पहली शर्त है।' पर इतने पर भी यदि वह ठहर जाता है तो भी वह सृजक नहीं है इसे एक पग और आगे बढ़कर अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा दूसरों को भी अपनी अनुभूति में सहयोगी होने के लिए चेष्टा करनी पड़ेगी। अतः जितने सृजनशील साहित्यकार होते हैं वे नैसर्गिक रूप में Voyeur (वायर) होते हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट की कवि-निर्मिति के उक्त दो विशेषण 'अनासन्न लेखकत्व' की प्रक्रिया के ही दो पक्ष हैं और इनकी यही संगति डा० उपाध्याय के सिद्धान्तों में पाई जाती है।

'रहस्य दर्शन सृजन की पहली शर्त है,' इस सम्बन्ध में पिछले अध्याय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसके विस्तार की यहां बहुत आवश्यकता नहीं है। रहस्य-दर्शन की जिज्ञासा लेखक को अपने व्यक्ति से अनासन्न कर देगी—इसमें दो मत नहीं हो सकते। अब दूसरे पक्ष आनन्द की स्वाभाविक वृत्ति की सर्जनशीलता स्पष्ट करने के लिए डा० उपाध्याय का ही उद्धरण उपस्थित किया जाता है—"मनुष्य में कुछ व्यवस्था अथवा प्रतिक्रियाओं से आनन्द प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यदि हम किसी वस्तु को धीरे-धीरे विकसित होकर चरमोत्कर्ष पर पहुंचते देखते हैं, दो विपरीतताओं को एक व्यापकतर एकता में समन्वित होकर अपने विरोध को भूलते देखते हैं तो हमें सुख होता है। अतः इस तरह की व्यवस्था आनन्द प्रदायक होती है। इसी मूल-तत्व के आधार पर सृजन प्रारम्भ होता है। आनन्द प्राप्त करना और आनंद प्राप्ति कराना सृजन की मूल प्रेरणा है।"[1]

दो विपरीतताओं का एकत्र समन्वय अर्थात् लेखक का अपने व्यक्ति से अनासन्न होकर वस्तु के व्यक्ति में लय हो जाना, दूसरे शब्दों में एक नये सक्रिय व्यक्तित्व का उदय, समन्वय की यह भूमि आनन्द की होती हैं, वह चाहे आदिम मनोवृत्यापन्न धरती का टुकड़ा हो अथवा रहस्य-दर्शन की जिज्ञासा का प्रकाश-खंड।

दूसरी जगह डा० उपाध्याय ने 'अनासन्न लेखकत्व' का अर्थ समझने के लिए दो आधारों का निर्देश किया है-(१) उपन्यास की शैली तथा रचना का माध्यम और (२) जिस दृष्टिकोण से कथा कही जा रही है उसका माध्यम दूसरे शब्दों में इनको भाषा तथा भाषेतर पक्ष कह सकते हैं।[2] भाषेतर पक्ष

१. ज्ञान और विज्ञान के संदर्भ में सृजन प्रक्रिया, सम्मेलन पत्रिका, भाग ५४, संख्या २, पृ० १७
२. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १२८-१२९

से कथा, पात्र तथा कथावस्तु के विन्यास की उपलब्धियों का ग्रहण होता है। ऊपर भाषेतर पक्ष का ही विश्लेषण हुआ है। कवि या साहित्यकार की भाषा के सम्बन्ध में भी पीछे दूसरे अध्याय में बहुत कुछ कहा गया है। साहित्य का जीवन उसकी भाषा ही है। अनासन्न लेखकत्व की स्थिति भाषा को सर्वथा नया संजीवन देती है, शब्द और अर्थ वही होते हैं पर वे जैसे कोई विरल स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में हमारे आलोचक का यह उद्धरण द्रष्टव्य है:—

उपन्यासों की भाषा में साधारण वाक्य-विधान से काम नहीं चलता, भाषा बांयी से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजकध्वनिअनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है। शब्दों को जहां से चाहे तोड़ दिया जाता है। एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़ कर विचित्र मल्हम तैयार किया जाता है। कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पैराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमें कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था में जो एक सूक्ष्म साहचर्य सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती हैं।[1]

यह भावोन्माद की अवस्था आदिम मनोवृत्यापन्न की स्थिति अथवा 'अनासन्न लेखकत्व' से भिन्न अन्य घटना नहीं है, जो भाषा को चमत्कारिक परिधान दे रही है तथा सूक्ष्म साहचर्य सूत्रों को अभ्युदित कर रही है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में जिसे प्रतिभा या प्रतिमान कहा गया है, दण्डी ने जिसे पूर्ववासना से अनुप्रेरित माना है, अन्य आचार्यों ने जिसके कारण कवि की अलौकिकता स्वीकार की है, उसी प्रतिभा का अन्यतम उत्कर्ष यह 'अनासन्न लेखकत्व' की स्थिति है। इसके स्वरूपभेद हो सकते हैं, पर सत्ता में संदेह नहीं किया जा सकता। प्राचीन कवियों में भी इसकी विद्यमानता थी और ऐसी स्थिति के धनी साहित्यकार आज भी हैं।

---

६ आलोचना का स्वरूप तथा अन्य मान्यताएँ

राजशेखर के अनुसार हम यह अनुमान करते हैं कि वेद, दर्शन, वार्ता-शास्त्र तथा दण्डनीति विद्याओं के अनन्तर साहित्य-विद्या के प्रति भारतीय चिन्तन की रुझान हुई। यह 'साहित्य विद्या' दर्शन का प्रतिकल्प है। दर्शन में मनुष्य समस्त भूगोल, खगोल, सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश के मूलभूत तत्वों की मीमांसा करता है, और साहित्य में वह शेष विद्याओं का सहारा लेकर अपनी अलौकिक प्रतिभा की समाधि में डूब कर अपने हृदय के ही स्वरूप तथा विस्तार की भावना करता है। दर्शन तथा उसके बाद साहित्य-विद्या का विकास-क्रम सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू के चिन्तन में भी विद्यमान है। दूसरे को देखना सरल है और अपने को देखना कठिन। अपने निरीक्षण की इस कठिनाई को सुगम बनाने के लिये कलात्मकता की अपेक्षा होती है। यह कलात्मकता ही साहित्य का सर्वस्व है, जो अनेक रूपों में परिस्फुरित होती है। जिसके कारण ही उसको चार के बाद पांचवी विद्या का गौरव मिला। तथा राजशेखर ने उसे सभी विद्याओं का निचोड़ कहा।[1] इस साहित्य-विद्या का ही अद्यतन नाम आलोचना या समीक्षा-शास्त्र है।

साहित्य और साहित्यविद्या परस्पर अन्वित हैं, किन्तु दोनों अलग अलग हैं। साहित्य का जन्म तो उक्त चार विद्याओं से भी पहले हो चुका था किन्तु उसका विवेचन करनेवाली यह 'साहित्यविद्या' चार विद्याओं के अनन्तर ही अस्तित्व में आई। इसके अस्तित्व का मूल पता विदग्ध-गोष्ठियों में मिलता है, जहां भावक कवियों की कविताएं सुनकर उनके गुण-दोष का विवेचन करते थे। इन भावकों द्वारा कविता के गुण तथा कवि के यश दोनों का

---

१. काव्यमीमांसा—अध्याय २

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतियश्चतस्रो विद्या." इति कौटल्य आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्तादण्डनीत्यो प्रभवति। 'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीय। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द।

प्रसार होता था।[१] भावकों के निर्माण के लिए 'साहित्यविद्या' का अस्तित्व सामने आया। दण्डी ने लिखा है कि कीर्ति चाहनेवालों को निरलस होकर सरस्वती की उपासना करनी चाहिए, जिससे कवित्व शक्ति कृश होने पर भी विदग्धगोष्ठी में कविता सुनाने की अथवा उसके गुण-दोष विवेचन पर बोलने की क्षमता प्राप्त हो जाए, (क्योंकि बिना विदग्ध-गोष्ठी में नोक-झोंक किये यश का विस्तार नहीं होता।[२] दण्डी का यह कथन कवि के लिये कम, काव्यालोचक भावक के लिए ही अधिक है। विदग्धगोष्ठी की इस परम्परा ने साहित्य-निर्माता कवि तथा साहित्य-द्रष्टा भावक-आलोचक दोनों के अस्तित्व को युगपद् उद्भासित किया। तथा साहित्य के निर्माता से उसके द्रष्टा आलोचक का यश किसी प्रकार न्यून नहीं माना गया। विदग्ध-गोष्ठियों का यह अस्तित्व अन्त में राजसभाओं में खो गया और भावक के रूप में (काव्य-शास्त्रीय आचार्य नहीं) विशुद्ध काव्यालोचक की जो एक परम्परा जन्म ले रही थी वह केवल इतिहास की स्मृति रह गई।

साहित्य की मीमांसा के दो पक्ष थे— एक तो उसकी संजीवनी रचना-प्रक्रिया अर्थात् कला पक्ष, जिसके मापदण्ड की अनेक मान्यताएं हैं, इनकी विभिन्नता न केवल विश्व साहित्य के स्तर पर ही विद्यमान है, एक साहित्य में भी इसकी विभिन्नता का लम्बा इतिहास है, यथा संस्कृत-साहित्य में अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति हैं। दूसरा पक्ष है—इस कलात्मकता से परिस्फुटित होने वाला चेतन-अचेतन स्तर का वह अतल मानव मन, जिसके रहस्य-उद्घाटन की प्रेरणा में साहित्य-निर्माता रचना के लिए प्रवृत्त होता है। इस पक्ष का किंचित् विस्तार भारतीय रस-सिद्धान्त में होता है, पर वह पर्याप्त नहीं है, इस विषय में तीसरे अध्याय में बहुत कुछ कहा गया है। रहस्य-दर्शन की यह प्रवृत्ति साहित्यकार को जन्म देती है, और प्रथम कला-पक्ष उसे जीवन देता है। साहित्यालोचन में पहला पक्ष कवि की रचना-प्रतिभा का प्रमाण है, और दूसरा पक्ष उसकी अतल-स्पर्शिनी प्रतिभा को पाठक के मन के साथ समन्वित करता है, जिसमें प्रत्येक पाठक कवि होने का अनुभव करता है, या

१. वही, अध्याय ४

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः॥
काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

२. काव्यादर्श १।१०५

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

अपने को रचना के पात्र में विस्मृत कर देता है। इसी दूसरे पक्ष की समीक्षा का उज्ज्वल पक्ष आज सामने आ रहा है और मनोविश्लेषण शास्त्र की सहायता इसे वैसे ही अधिक प्रतिभासित कर रही है, जैसे अब तक दर्शन ने साहित्य के रस-चिन्तन में योग दिया था। डा० देवराज उपाध्याय के मनोवैज्ञानिक निर्वचन में आलोचक तथा आलोचना को लेकर कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सैद्धांतिक प्रश्न हमारे सामने आते हैं उनके मूल्य पर संक्षेप में यहां विचार किया जाता है। ये ऐसे प्रश्न हैं जो आलोचना-शास्त्र की सही स्थिति को प्रकट करते हैं।

पहले आलोचना के स्वरूप की मीमांसा देना आवश्यक है। डा० उपाध्याय का कहना है कि आलोचना सदा ही नवीनता की ओर गतिशील रही है। यह इस प्रकार से–आलोचना रमणीयता का उद्घाटन करती है और रमणीयता का स्वरूप कभी एक सा नहीं रहा है। क्षण–क्षण की नूतनता ही रमणीयता का जीवन है। अतः कृति की रमणीयता का उद्घाटन प्रकारान्तर से नवीनता का आकलन है और वही आलोचना है। उपाध्याय जी का उद्धरण यह है–'आलोचना के इतिहास में रुचि–परिवर्तन का दृश्य सदा ही देखने को मिलता है।' 'पल–पल परिवर्तित प्रकृति वेश' यह कथन प्रकृति की परिवर्तनशीलता से अधिक आलोचना की गतिविधि के सम्बन्ध में औचित्य के साथ लागू हो सकता है। माघ ने रमणीयता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है–'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' अर्थात् प्रतिक्षण जो नव नवीन रूप धारण करे, जिसके स्वारस्य का भी अन्त न हो, वही सच्ची रमणीयता है–तो इसकी संगति समालोचना से भी बैठाई जा सकती है क्योंकि समालोचना का कार्य भी एक तरह से आलोच्य वस्तु में अन्तर्निहित रमणीयता के उद्घाटन के सिवा और क्या है?'[1]

काव्य के दोषों अथवा त्रुटियों की मीमांसा में आलोचना का विस्तार भले किया जाता है। लेकिन पाठक को आलोचना से तब तक कुछ उपलब्धि न होगी जब तक कृति के गूढ़, उज्ज्वल पक्ष का उद्घाटन उसमें न मिल जाये–'आलोचकों ने समय–समय पर काव्य के दोषों का भी उल्लेख किया है, उसकी त्रुटियों की ओर भी निर्देश किया है पर उनका उद्देश्य यही रहा है कि इनके सहारे काव्य के उज्ज्वल पक्ष को ही प्रकटित किया जाए।'[2]

रमणीयता का यह उद्घाटन अत्यन्त दुरूह कार्य है। अगर यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि रमणीय कृति के निर्माण में जिस समाधि अवस्था

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १८४
२. ,, ,, पृ० १८४, १८६

की अपेक्षा होती है, उससे भी अधिक कहीं प्रकृष्टतर समाधि-अवस्था से सम्पन्न यदि आलोचक होगा, तभी वह कृति में निहित रमणीयता का उद्घाटन कर सकेगा। डा० उपाध्याय आलोचना को कवि-कर्म से भी अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने पिछले वर्ष प्रयाग में उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा आयोजित स्वागतसमारोह का उत्तर देते हुए कहा था कि 'आलोचना का कार्य इतना गुरुतर है कि बिना ४० वर्ष की अवस्था पार किये इस पर कलम ही नहीं चलानी चाहिए। किसी आलोचक को किसी कृति की आलोचना करते समय वह मनोवृत्ति धारण करनी चाहिए जो एक भक्त पूजा करते समय मन्दिर-प्रवेश के अवसर पर मूर्ति के प्रति धारण करता है और सच्चे हृदय से रचना से वरदान मांगना चाहिए, उसे सम्यक्प्रश्न होना चाहिए अर्थात् वही प्रश्न करना चाहिए, जिसका सम्बन्ध साक्षात् रूप से, उस कृति से है। प्रायः आलोचक रचनाकार की मानसिक परिस्थिति के ऊहापोह में इतने निमग्न हो जाते हैं कि आलोच्य कृति उनकी नजर से ओझल हो जाती है।' ऊपर हमने प्रकृष्टतर समाधि अवस्था की बात कही है, वस्तुतः आलोचक का पक्ष इससे भी आगे परकायप्रवेश का है- 'आलोचक को आलोच्य कवि के साथ तादात्म्य करना होगा। उसको ठीक से समझना होगा, परकाय-प्रवेश कला में दीक्षित होना होगा। इस कला में दक्षता तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक मनुष्य अहर्निश ज्ञान-विज्ञान-वैदुष्य की तपोभूमि में बैठकर अलख न जगावे।'[1]

प्रतिक्षण नवीन रूपमत्ता और स्वारस्य ही रमणीयता है, ऐसी रमणीयता को खोज कर सामने प्रकट करना तभी सम्भव हो सकता है जब उसे खोजने वाला समीक्षक भी समयानुसार अपूर्व दृष्टि से सम्पन्न हो, पूर्व को अतिक्रान्त कर साहित्य तथा समीक्षक दोनों ही प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रसंग में आचार्य कुन्तक का यह कथन सही स्थिति का बोध कराता है। यह केवल उनकी गर्वोक्ति नहीं है-

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्य-सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। १।२

अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारजनक वैचित्र्य की सिद्धि पाने के लिए काव्य का कोई सर्वोत्कृष्ट अपूर्व नया-रचना-सिद्धान्त उन्मीलित किया जा रहा है। उनका यह अपूर्व काव्य-रचना-सिद्धान्त या अलंकार ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' है। इसमें उन्होंने काव्य के जो अनेक रचना-प्रकारों-वक्रोक्तिविधाओं की

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १८९

व्याख्या की है, वहां अनेक वार वे अपनी उन परिभाषाओं के लिए अतिक्रान्त, अपूर्व नूतन, कोऽपि (सर्वोत्कृष्ट) जैसे पदों का प्रयोग करते रहते हैं, वस्तुतः यह ग्रन्थ कला तथा वस्तु दोनों पक्षों के सिद्धान्तों की मीमांसा है । कुन्तक वार-वार कुछ ऐसी परिभाषाओं का विधान करते हैं—व्यवहार, चेष्टा आदि के सौन्दर्य का नूतन औचित्य सत्काव्य से प्राप्त होता है।[1] काव्य का चमत्कार चतुर्वर्गफल-प्राप्ति को भी अतिक्रान्त करता है ।[2] अलौकिक चमत्कारकारी सौभाग्यगुण काव्य का जीवित है ।[3] कवि के सहज तथा आहार्य कौशल से युक्त वह दूसरी वस्तु-वक्रता है जो नूतन उन्मीलनों से अब तक के लोकलावण्य को अतिक्रान्त कर नयी रमणीयता को गोचर कराने वाली निर्मिति बनती है ।[4] कवि की असामान्य सूक्ष्म नूतन वक्रताओं को जन्म देती है ।[5] इन परिभाषाओं में अपूर्व, अतिक्रान्त, नूतन अर्थबोध आदि के समावेश के विना परिभाषा समग्र नहीं हो पाती । अतः यह अनुभव होता है कि कुन्तक की ये परिभाषाएं सिद्धांतों का दिशा-संकेत हैं । वे भी अपने निदर्शन में अभी समग्र नहीं है, सिद्धान्त की रूपरेखा में भले पूर्ण हों, क्योंकि नूतनता तथा लावण्य-बोध की अतिक्रान्तवृत्ति तो सदा गतिशील होगी, अगर वह वही रही तो फिर नूतनता या अतिक्रान्तता के अर्थ छूछे हो जाएंगे । अतः ऊपर डा० उपाध्याय ने आलोचना को जो नवीनतम रमणीयता के उद्घाटन की खोज-प्रक्रिया कहा है, वह उन आचार्यों का सत्य है जो साहित्य को सदा जीवित रखना चाहते हैं । शाश्वत सिद्धान्त की दुहाई देकर रूढ़ि में साहित्य को समेट कर उसे प्राणरहित खिलौने का रूप देना नहीं चाहते । उनका कहना है—प्रत्येक युग अपनी कविता के प्रति अपने ढंग से विचारने तथा परखने के लिए स्वतन्त्र है और वही सही है । हम आज किसी प्राचीन कवि पर जिस ढंग से विचार करते हैं वह यदि अर्वाचीन आलोचक के विचारों से मेल नहीं खाता तो प्राचीन आलोचक द्वारा प्रशंसित कविता कविता नहीं—यह मान लेना गलत बात को प्रश्रय देना है । जब कभी जहां भी इदंतनी तदंतनी विचारवान् पुरुषों ने जिसे भी कविता का गौरव प्रदान किया है वह सब कविता की संज्ञा की अधिकारिणी है ।[6]

साहित्य शास्त्र में किसी शाश्वत मान्यता का अभाव :

अब प्रश्नों को लें । एक प्रश्न यह है कि क्या साहित्यालोचन के क्षेत्र में किसी शाश्वत सिद्धान्त की मान्यता कोई सत्य है और क्या उसे

१. वक्रोक्तिजीवितम १।२
२. वही १।५
३. वही १।५६
४. वही ३।२
५. वही ४।६
६. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १९९

आधार बनाकर प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है ? वस्तुतः यह प्रश्न पश्चिमी साहित्य समीक्षा क्षेत्र से आया है, क्योंकि भारतीय साहित्यविद्या में तो काव्यात्मा के रूप में रस की सार्वकालिक प्रतिष्ठा है ही। डा० उपाध्याय ने पश्चिमी सिद्धान्तों की अपने चिन्तन के वृत्त में व्याख्या की है और शाश्वत सिद्धान्त के विपक्ष में अपनी सहमति व्यक्त की है।

प्रकारान्तर से यह शाश्वतवाद कविता के असाधारण धर्म की खोज को महत्व देता है। इसका महत्व भारतीय साहित्य में तो रहा ही है, पश्चिमी साहित्य भी इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हुए हैं--आलोचना के क्षेत्र में एक तीसरा सिद्धान्त भी प्रचलित है जिसे शाश्वतवाद किसी दूसरे अभिव्यंजक शब्द के अभाव में कहा जा सकता है। यह काव्य को सारी अवान्तर बातों से मुक्त कर उसके प्राण-धायक शाश्वत तत्व की खोज करता है। कविता बहुत से कार्य करती हैं, उपदेश देती है, सूचनाएं दे सकती है, तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति पर प्रकाश डाल सकती है। कवि के मानसिक स्वास्थ्य को कथा कह सकती है। करे, इसमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु वह तथ्य क्या है जिसके अभाव में सब कुछ रहते हुए भी वह कविता नहीं रह जाती। यदि कविता को अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित करना है, 'विदग्धवदनेषु शाश्वतपदविन्यास' करना है तो उसे अपने मौलिक स्वरूप को प्रकट करना ही होगा, बतलाना होगा कि वह क्या है जो पर चीज नहीं है, वह कौनसा काम करती है जो दूसरे नहीं कर सकते। उसे अपने व्यावर्तक तत्व को प्रकट करना होगा। अंग्रेजी साहित्य के अध्येता कविता से इसी quiddity की मांग करते हैं। नैय्यायिकों ने सब वस्तुओं के लक्षण की खोज करते हुए यही मांग की है कि भाई हमें उलझन में न रखो। हमें अपना लक्षण बतलाओ और 'लक्षणं त्वसाधारणधर्मवचनम्' अर्थात् लक्षण हम उसे कहते हैं जो लक्ष्यवस्तु के असाधारणधर्म का उल्लेख करे अर्थात् जो कम कहे न अधिक, जो न तो अव्याप्त हो, न अतिव्याप्त।[1]

इस प्रश्न का उत्तर साहित्य - शास्त्र के इतिहास में भिन्न-भिन्न रूप से दिया गया है। पहले तो यह भिन्नता ही शाश्वतवाद के सिद्धान्त को असमंजस में डाल देती है। पर यह कहा जा सकता है कि अभी खोज जारी है। किन्तु जब हजारों वर्ष के चिन्तन के विपरीत भी कहीं का साहित्यजगत किसी एक मान्यता पर एकमत नहीं है तब क्या आशा की जाए कि भविष्य में कभी एक मत की स्थिति आ सकती है। अभी खोज जारी है इसके दो पक्ष हैं—एक यह कि कविता अपने निजी सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित है पर उसका

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १९३

प्राणाधायक तत्व क्या है, इसे आलोचक की मेधा नहीं पकड़ सकी है। दूसरा यह हो सकता है कि कविता के प्राणाधायक तत्व की सही खोज नहीं हो पाई है और उसके फलस्वरूप कविता अपने सत्य रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। दोनों ही पक्षों की अपनी-अपनी पृष्ठभूमि है और उन पर चिन्तन-मनन के भवन खड़े हुए हैं, पर उनसे यह निष्कर्ष नहीं उपलब्ध होता कि कविता की कोई एक सार्वकालिक मान्यता है या हो सकती है जिसकी कसौटी पर ही उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिये।

पहले पक्ष को लीजिए। आलोचक की मेधा कविता के प्राणाधायक तत्व की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील हैं। पर उसने आज जो खोज कर निष्कर्ष रखा, कल उसकी नई पीढ़ी ने उससे विरोध प्रकट कर दिया। साहित्य की आलोचना का इतिहास इस प्रकार के परस्परविरोधी सिद्धान्तों की स्थापनाओं से व्याप्त है। हमने पीछे दूसरे अध्याय में भावोदय तथा उसके विरुद्ध भाषाक्रान्ति का जो संक्रमक इतिहास उद्घृत किया है, उसको भी स्मरण कर लेना चाहिये। भाव और भाषा, विशेषतः भाषा जब-जब एक-दूसरे के विरोध में नई क्रान्ति लेकर आए उनकी वेशभूषा, उनकी अपनी संजीवनी भी नई थीं, वे पुराने स्वरूप में नहीं थे। भाषा ने बहुत स्पष्ट पहले अनुप्रास, यमक पुनः गुण, पुनः रीति और अन्त में अपने सभी पूर्व स्वरूपों से भिन्न वक्रोक्ति सिद्धान्त के रूप में अपना अवतरण किया। फिर कैसे एक प्राणाधायक तत्व की स्थापना हो। डा० उपाध्याय ने साहित्यालोचना के इतिहास की इस विचित्र स्थिति को स्वीकार ही नहीं किया है। इसको एक रहस्यात्मक समस्या के रूप में मान्यता दी है, जिसका उत्तर मनोविज्ञान से मिलता है— "ध्यानपूर्वक विचार करने पर पता चलेगा कि आलोचना का सारा इतिहास ही उसकी असत्यता का प्रमाण दे रहा है। सुरुचि के विकास का इतिहास इतना सीधा नहीं है कि उसे तर से तम अवस्था की सीधी-सादी रेखा के रूप में देखा जा सके। विज्ञान के विकास की एक सीधी रेखा देखी जा सकती है। जैसा हम देखते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में दो पीढ़ियों में अर्थात् पिता-पुत्र में संघर्ष कभी नहीं हुआ, विज्ञान ने अपने पूर्ववर्ती युग के सिद्धान्त को कभी भी निराहत नहीं किया। अपने पिता की आज्ञा का आदर किया पर साहित्यिक सुरुचि का इतिहास इससे सर्वथा विपरीत रहा है। वास्तव में आलोचना के सही इतिहास की कथा तो यही रही है कि प्रत्येक युग अपने अव्याहत पूर्ववर्ती युग की अवहेलना कर उसके पूर्ववर्ती युग से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। मानों कोई बालक प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपने लालनपालन करने वाले पिता की ओर न देखकर अपने पितामह की ओर देख रहा है। मनोविज्ञान की यह मान्यता भी है कि पुत्र अपने पिता की अपेक्षा पितामह

की विशेषताओं से अधिक प्रभावित होता है।[1] डा० उपाध्याय का यह कथन उस मत के खण्डन में उल्लिखित हुआ है, जो यह मानते हैं कि आलोचनात्मक सुरुचि और प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास या समृद्धि होती है—अतः यह मानने के लिए कोई भी सुनिश्चित प्रमाण नहीं है कि समय के साथ हमारी आलोचनात्मक सुरुचि तथा प्रतिभा की सम्पन्नता तथा वैभव में भी समृद्धि होती जाती है।" किन्तु इस कथन से हम अपने मूल प्रश्न—क्या साहित्य का कोई सार्वकालिक प्राणदायक तत्व है—का उत्तर भी पाते हैं। उद्धरण है—"आलोचना का सारा इतिहास उसकी असत्यता का प्रमाण दे रहा है।" अगर हम यह कहें कि यह मनोवैज्ञानिक की उक्ति है और इसकी यह भी व्याख्या हो सकती है कि प्रत्येक युग का, आलोचना का इतिहास अपनी अपनी सत्यता का प्रमाण दे रहा है, असत्यता का नहीं तो ऐसा निर्वचन गलत न समझा जायगा।

गलत न होगा, यह मेरा ही कहना नहीं है। सापेक्षतावादी आलोचना का स्पष्टीकरण करते हुए उपाध्यायजी भी इसे स्वीकार करते ही हैं। पर प्रत्येक युग के कवि के सामने एक ही समस्या तो नहीं रहती। उन्हें भिन्न भिन्न समस्याओं से लोहा लेना पड़ता है। कालिदास और माघ, सूर और बिहारी, प्रेमघन और पन्त अथवा महादेवी या दुष्यन्त कुमार अथवा होमर या मिल्टन के सामने एक ही समस्या थोड़े थी। प्रत्येक युग की कविता के सामने अपनी-अपनी असाधारण समस्या रहती है जिसे वह अपने ढंग से हल करना चाहती है। और यही मानना समीचीन है कि प्रत्येक युग अपनी समस्या को जिस ढंग से हल करता है वही श्रेष्ठ है। व्यक्ति गलत हो सकता है परन्तु युग सदा सही होता है। जिस रूप में वह अपनी समस्या को हल करता है वही उसका सही रूप है।[2]

प्रत्येक युग का अपना सत्य और समस्याएँ उसकी अपनी हैं, यह एक सत्य है। यह तो युग की बात हुई। हम तो यह समझते हैं कि काल के पथ में आनेवाला प्रत्येक वत्सर ही नया होता है। हर एक वर्ष को हम एक नयी जिज्ञासा, नयी प्रेरणा से देखते हैं। पर न तो हर एक वर्ष, न तो प्रत्येक युग अपने में पूर्ण है और न उसकी उपलब्धि या मान्यता पूरे काल का सत्य हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक युग का साहित्य भी मन-रूपी काल के अनन्त पक्ष का भिन्न-भिन्न अंश है, उसकी पूर्णता मन की अनन्त सम्भावनाओं में

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १८८
२. " " पृ० १८८

ही होगी और मन की उस गति का अन्त पा लेना साहित्य का अन्त हो जायगा, फिर साहित्य में एक मान्यता की स्थापना का उद्घोष करने का दुस्साहस कैसे सराहा जाये, सम्भव है कि किसी ऐसी मान्यता के निर्धारण में सभी साहित्य-चिन्तक एकमत हो जाएं और वह मान्यता हजारों वर्ष के साहित्य को माप रखने की क्षमता भी रखती हो, पर स्वयं साहित्य और उसकी दृष्टि में नवीनता के प्रति जो उद्दाम आग्रह है, उसे कैसे अनुशासित किया जायगा। नवीनता का यह आग्रह कोई शेखचिल्लीपन नहीं है और न मन की चंचलता या लोलुपता है, डा० उपाध्याय जी के विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह नवीनता मन की गम्भीरता अचेतन स्थिति की क्रिया है जिससे हमारा, क्रिया-जगत् का मन भी अनभिज्ञ हो सकता है, साहित्य तो अनभिज्ञ रहता ही है। इस अत्यन्त गूढ़ अचेतन स्तर के उद्घाटन की क्षमता भी केवल कलात्मक अभिव्यक्ति में है दार्शनिक आत्माभिव्यक्ति में नहीं। ऐसे गम्भीरतर अचेतन स्तर को छूनेवाला साहित्य ही अपने पूर्व युग को अतिक्रान्त करता है और आती हुई मान्यताओं को लाचार करता है कि वे नवीन को प्रतिष्ठित होने देने के लिये मार्ग छोड़ दें—पर "आत्माभिव्यक्ति तथा कलात्मक अभिव्यक्ति—कभी एक नहीं। हमारे प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों ने इस बात को समझा था और करुणरस से आनन्दोपलब्धि किस तरह होती है इस समस्या पर विचार करते हुए अथवा साधारणीकरण की चर्चा करते हुए प्रकारान्तर से शुद्ध आत्मानुभूति तथा साहित्यानुभूति के पृथक्त्व की बात कही थी। आज भी हम साधारणीकरण चाहते हैं, विशेषतः कथा-साहित्य में तो वह होना ही चाहिए। पर वह साधारणीकरण अब आधुनिक मनोविज्ञान-किरण के आलोक में होगा। लेखकों और पाठकों के प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक ज्ञान-विकास के साथ यह मानस के गम्भीरतर अचेतन स्तर पर किया गया साधारणीकरण सम्भव होता जायगा और अधिक आनन्ददायक होगा।"[१]

मन के गम्भीरतर अचेतन स्तर की क्रिया तो एक तात्विक सत्य है पर इसके साथ ही साहित्य में उसकी नवीनता के लिए घोर आकुल पिपासा की प्रेरणा मनुष्य की परिवर्तनशील भौतिक सत्ता एवं आस्था भी है। नवीनता के बिना उसका जीवन नहीं है। रमणीयता नवीनता का आश्रय लेकर रहेगी। कलात्मक अभिव्यक्ति के ये सहज पक्ष हैं। पर अपने प्रकृतिधर्म नवीनता में कभी रमणीयता का अतिचार भी हो सकता है, यह हो सकता है

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ९३

कि वह विराट् बनने चले पर बौनी हो जाये। यह तब होता है जब कवि के लिए अपना देश, अपनी संस्कृति और अपना युग नहीं होता, क्योंकि नवीनता के लिए स्वतन्त्र धरती चाहिए। यही कारण है कि हिन्दी–रीतिकाल का विशाल संयोग-विप्रलम्भ-शृंगार-काव्य कालिदास के एक छोटे से मेघदूत काव्य के सामने तब नगण्य हो जायगा, जब दोनों के संजीवनी--धर्म की तौल की जायगी। काव्य--सिद्धान्त के निर्वाचन में भी यह अन्तर आया है। भरत या भट्ट लोल्लट ने रस के आस्वाद का जो प्रतिमान स्थापित किया था, डेढ़ हजार वर्ष बाद पंडितराज जगन्नाथ का प्रतिमान उससे सर्वथा भिन्न हो गया है, केवल रस--संज्ञा की नाममात्र की ऊपरी एकता के भ्रम को दूर कर हम भीतरी छानबीन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा। वह भिन्नता न केवल शास्त्रीय चिन्तन में है, रचनाओं में भी है। समान प्रस्तुतों को काव्य का रूप देने में कालिदास या उनकी निकटवर्ती शताब्दियों के कवि एक सोपान पर हैं और पण्डितराज जगन्नाथ दूसरे सोपान पर। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस-सूत्र के संयोग पद का अर्थबोध भावना-दोष में ग्रहण किया। भावना-दोष अर्थात् कल्पना का सत्य। कल्पना से अवच्छिन्न होकर अन्तर्मन का रस की अनुभूति करना। कल्पना को अज्ञान भी कह सकते हैं। रंगमंच के दुष्यन्त, शकुन्तला आदि पात्र कल्पित ही हैं, प्रत्यक्ष में यह अज्ञान ही है कि रंगमंच के नट के कल्पित दुष्यन्त आदि के रूप में हम अतीत के घटित भावों का सत्य देखते हैं और उसकी अनुभूति करते हैं। अभिनव गुप्त ने जिस अनुभूति को देश--काल से निर्विशेष कहा था भावनादोष उससे भिन्न स्थिति है। देशकाल से निर्विशेष स्थिति में अवस्थित हमारा मन सत्य के पास, यह सत्य चाहे पात्र हो या अपना मन, पहुंचता है। और भावना-दोष की अनुभूति में सत्य में नहीं, असत्य में रमणीयता (रमण की स्थिति) को पाने की कल्पना होती है। रस-दर्शन की एक ही परम्परा के ये दो बिन्दु दो विभिन्न दिक् की ओर उन्मुख हैं। दोनों की सत्तात्मक स्थिति में छह शक्तियों का अन्तर है। भावनादोष के उद्भावक पण्डितराज अपनी काव्य-रचना में भी सत्य को कल्पित बनाने की ओर प्रवृत्त होते हैं। साथ ही अपनी रस-दर्शन-व्याख्या और रचना-करण दोनों में अन्तर नहीं आने देते। अतः अप्रस्तुत-प्रस्तुत की योजनाओं में कालिदास और श्रीहर्ष आदि कवि जिस दृष्टि से देखते हैं, वही दृष्टि पण्डितराज की भी नहीं है। वे कवि देश के उस इतिहास में पैदा हुए थे, जिसके निर्माता उनके जातीय थे, पण्डितराज जगन्नाथ के देश का इतिहास दूसरी जाति द्वारा बनाया जा रहा था और उनके पाण्डित्य का एकाकी अभिमान उसे लाचार होकर देख रहा था। उनका मन जिस मिट्टी से रस पाकर संवर्धित हो रहा था उसकी सत्ता का ही प्रस्फुरण मन को आक्रान्त

किये था—इसमें दो मत कैसे हो सकते हैं ? इस मनोविज्ञान के अंकुर उनकी सूक्तियों में हैं जो भावना--दोष से संवलित हैं। वे सत्य को कल्पना से रमणीय बनाती हैं। आचार्य दण्डी ने अचेतन की चेतनीकरण विधा में समाधिगुण का विधान किया था। इस समाधिगुण के कवि राजशेखर तक ख्याति पाते रहे हैं। "मेघदूत" की रचना भी समाधिगुण का प्रबन्धात्मक रूप है। पर पण्डितराज जगन्नाथ चेतन को अचेतनीकरण की ओर ले आते हैं, एक उदाहरण देखिए—

धीरध्वनिभिरलं ते नीरद ! मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्ध्या मध्ये जठरं समुच्छलति ।।

सिंहिनी बादल का गर्जन सुनकर उसे सम्बोधित करती है नीरद ! अपनी गम्भीर गर्जना बन्द करो। मेरे पेट में महीने भर का गर्भ है, तेरे गर्जन से उसको उन्मत्त हाथी के गर्जन का भ्रम हो रहा है और वह उसके प्रतिकार के लिए चंचल होता है, मुझको इससे कष्ट है। पूरी सूक्ति ही भ्रम की कल्पना से जीवित हो रही है—बादल में हाथी का भ्रम, महीने भर के गर्भ का प्रतीकार के लिए चंचल होना, तथा सिंहिनी का अपने गर्भ की इस सक्रियता से प्रबुद्ध होकर बादल को डांटना। हाथी की गर्जना का प्रतिकार करने के लिए सिंहिनी को छोड़कर कवि उसके उदरस्थित गर्भ की ओर ताक रहा है, पता नहीं कि वह सजीव है अथवा अभी गर्भ ही है। इधर जब सिंहिनी को त्याग कर गर्भ की ओर आंख लगाई तब उधर भी जंगल में प्रत्यक्ष हाथी के रहते, जिसकी वहाँ बहुत सम्भावना थी, कवि ने बादल के कल्पित हाथी का सहारा लिया यह भी झूठा, वह भी झूठा। पर नवीनता तो है ही। किन्तु इस नवीनता के द्वारा जिस रमणीयता की अभिव्यक्ति हुई वह बौनी रमणीयता है।

पण्डितराज जगन्नाथ की ऐसी और भी सूक्तियां हैं, जिनमें उनकी अभिव्यक्तियां उनके रस के भावनादोष सिद्धान्त का प्रमाण हैं। जिनमें कवि चेतन से अचेतन की ओर गया है, इसका उत्कृष्ट उदाहरण 'रस-गंगाधर' का मंगलाचरण है, जिसमें, कालिन्दीतट के वृक्ष के आलम्बन से स्थित कोई कादम्बिनी (मेघमाला, कृष्ण) कवि की मति को विभोर कर रही है।[1]

---

१. पूरा छन्द यह है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ।।

कालिदास आदि कवियों ने भी प्रकृति तथा मानवेतर प्राणियों को अपने काव्य का विषय बनाया है पर वे चेतन से अचेतन की ओर नहीं गये है। अचेतन का ही चेतनीकरण, या कहिए मानवीकरण किया है। रघुवंश में गोरक्षक दिलीप की परीक्षा लेनेवाला अष्टमूर्ति शिव का किंकर कुंभोदर नामक सिंह कवि की कल्पना है जिसमें शिव की अलक्ष्य अचेतन महिमा का चेतनीकरण हुआ है।

पण्डितराज की सूक्तियों में चेतन का जो अचेतनीकरण पाया जाता है, रूपकातिशयोक्ति अलंकार में भी अलंकार प्रक्रिया मात्र में ऐसे प्रयोग की दृष्टि मिलती है, पर वह शब्दप्रयोग से अधिक नहीं है। इसमें केवल उपमानों का ही उल्लेख कर उपमेय का वस्तु-निदर्शन होता है। लेकिन यहां तो पंडितराज ने इसे सूक्ति की स्वतन्त्र-विधा का अस्तित्व प्रदान किया और उपमान का प्रश्न ही नहीं रहा, चेतन वर्ण्य वस्तु के भाव या अर्थबोध को, अचेतन-दृष्टि से तादात्म्य करने की प्रवृत्ति आई है।

डा० उपाध्याय ने कलात्मक अभिव्यक्ति और आत्माभिव्यक्ति का जो अन्तर बताया, वह यही है, कलात्मक अभिव्यक्ति सदा नवीनता की ओर अग्रसरित रहती है। अगर नवीनता को ग्रहण करने की प्राणशक्ति उसमें न रही तो वह निःसंज्ञ भी हो सकती है। सिंह घास नहीं चरता, भले ही उसकी मृत्यु हो जाये। हां, कलात्मक अभिव्यक्ति को इस मृत्यु का अवसर नहीं आता वह या तो निःसंज्ञ हो जाती है या नवीनता की समाधि में बैठकर मौन बनती है। 'मानस के गम्भीरतर अचेतन स्तर पर किया गया साधारणीकरण सम्भव होता जायगा।' डा० उपाध्याय ने जो यह कहा, वह बहुत ठीक है, प्रत्येक युग के साथ मन के नये अचेतन स्तर का समवाय सम्बन्ध है। मन काल के साथ ही निरन्तर अनुगामी है, वह पीछे का अपना इतिहास देखता है अवश्य, पर उधर समाधि नहीं लगा सकता, नयी भूमि पर पुरानी सृष्टि की स्थिरता सम्भव नहीं होती। इसका सबसे प्रकृष्ट प्रमाण राम-साहित्य की रचना है जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनेक कवियों में निरन्तर नया-नया बाना पकड़कर अवतरित हुई है, तुलसीदास के रामचरित मानस के राम मुसलिम साम्राज्य में पैदा हुए, वे इस देश की पराजित किन्तु स्वाभिमानी जाति के गायक कवि के राम हैं, जो उसके अचेतन स्तर को तोड़ कर निकल आये हैं, उनकी समानता वाल्मीकि के राम से कदापि नहीं हो सकती। और न हीं तुलसी के रावण वाल्मीकि के रावण हैं। मानव अथवा कवि के मन के इस अचेतन स्तर का कोई ओर-छोर नहीं है, जैसा कि कहा गया वह काल के साथ सदैव अग्रगामी है। अतः काव्य-जगत् में किसी शाश्वत सिद्धान्त की मान्यता अपना टिकाऊ मूल्य नहीं रखती।

और आज जब कि चैतन्यात्माभिव्यक्ति से आगे बढ़ कर मन के गम्भीर अचेतन स्तर को उद्घाटित करने के कौशल का प्रयोग लेखक अपने कथा-विन्यास में कर रहा है। अचेतन की भाषा को निबद्ध करने एवं पढ़ने के प्रयोग हो रहे हैं, तब रस-सिद्धान्त इस विलक्षण साहित्य-रचना को अपना अभिन्न बनाने के लिए स्वयं अपना भी कलेवर बदलेगा, दूसरा ही हो जायगा, अथवा भिन्न होकर वर्तमान से छिन्न रहेगा, उसका स्थान साहित्य-विद्या के इतिहास में सुरक्षित है। तीसरे अध्याय में इस संबंध की उप-पत्तियां प्रकट ही की गई हैं।

यहां पर एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह है कि साहित्य में शाश्वत मान्यता का तो अभाव है किन्तु साहित्य के मूल्य में शाश्वतता की अपेक्षा रहेगी। साहित्य की विधाएं क्या से क्या हो गयीं, पर क्या कालिदास, बाण, श्रीहर्ष, तुलसीदास के प्रति साहित्य के पाठकों का आकर्षण कम हुआ है? उत्तर है—नहीं। वह इसलिए कि शाश्वत मन की ही अभिव्यक्ति तो साहित्य में हो रही है, यह बात दूसरी है कि मन के नये नये अचेतन स्तर अपना अवतरण करते हैं, पर मन एक है, वही केन्द्र है। डा० उपाध्याय ने इस पर अपनी सहमति व्यक्त की है—"फिर भी मैं मानता हूँ कि शाश्वतता और मूल्यवत्ता में सम्बन्ध अवश्य है। आई० ए० रिचर्ड्स भी एक तरह से मानते ही हैं। उन्होंने प्रश्न उठाया कि मूल्यवान् किसे कहते हैं? और कहा कि कोई चीज जो हमारी किसी मांग की पूर्ति करे वह मूल्यवान् है। और हमारी आदर्श मानसिक अवस्था वही है जिसमें अधिक से अधिक मांगों की पूर्ति हो और कम से कम मांगों को दबाना पड़े। कवि की इसी सन्तुलित अवस्था में कविता की उत्पत्ति होती है और वह पाठक में भी इसी सन्तुलन की सृष्टि करती है। बस समझ लीजिए कि एक सूक्ष्म सन्तुलन, सुई की नोक पर टिका रहने वाला हमारा आदर्श हो जाता है। इस तरह के सन्तुलन को शाश्वत के सिवा और क्या कहा जा सकता है। शाश्वत शब्द यदि पसन्द न हो तो चिरस्थायी कहें या अधिक टिकाऊ।" और इसीलिए "साहित्यिक मूल्य तात्कालिक प्रभाव से नहीं जाना जा सकता।....साहित्य का कार्य एक सौन्दर्यमूलक अनुभूति तो है ही पर वास्तविक मूल्य इसमें है कि इस सौन्दर्यमूलक अनुभूति के बाद कैसा residue उत्पन्न करता है।...साहित्य का मूल्य उसके effect में नहीं, after effect में है, मैंने यह कसौटी साहित्य के लिए रखी है। पर यह बात नहीं है कि यह कसौटी साहित्य पर ही लागू हो। यह हरेक क्षेत्र पर लागू हो सकती है।"[1] प्रभाव के बाद की मूल्यवत्ता ही शाश्वत की अनुग्राहकता है।

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११७-११८

एक और निष्कर्ष की चर्चा कर साहित्य-रचना में शाश्वत मान्यता के प्रभाव का प्रसंग पूरा हो जाता है। शाश्वत सिद्धान्त की मान्यता न स्वीकार किये जाने पर आलोचना के क्षेत्र में अपने आप एक नई मान्यता का उदय हो जाता है। वह यह है कि दो युगों के दो भिन्न साहित्यकारों की तुलनात्मक आलोचना किया जाना सिद्धान्त-विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक युग की रचना-मान्यता के दृष्टिकोण भिन्न होंगे अतः, इससे हम किसी उचित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। डा० उपाध्याय लिखते हैं—"साहित्य में दो लेखकों को लेकर यह दिखलाने की चेष्टा करना कि एक दूसरे से श्रेष्ठ है या अधिक महत्वपूर्ण है—व्यर्थ की माथापच्ची करना है। इससे रचना के मर्म को, उसकी गहराई को समझने में तो कुछ सहायता मिलती नहीं, बल्कि द्वेष का ही प्रचार होता है, समस्या स्पष्ट न होकर और भी धुन्धली हो जाती है। संसार सतत प्रवाहशील है, हम निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं, दुनिया का प्रत्येक अणु-परमाणु प्रतिक्षण बदलता रहता है। उसी तरह साहित्य भी परिवर्तित होने के नियम के शिकंजे से, चक्र से मुक्त नहीं। उसमें भी परि-वर्तन होता रहता है। यही परिवर्तन जीवन का मूल है अतएव साहित्य का भी। जहाँ यह परिवर्तन रुका, कि 'प्रसाद' जी के शब्दों में महाप्रलय हुआ। हिन्दी उपन्यासों की धारा जैनेन्द्र जी तक आकर एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित होती है। यह परिवर्तन, यह क्रान्ति, यह विद्रोह जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्पष्ट होकर सामने आता है।"[1]

आलोचक मिथ्याभेदी है

अब जब साहित्य के माप-दण्ड की कोई स्थिर शाश्वत मान्यता नहीं है तब निष्प्राण हुई मान्यताओं की पहचान, जो इतिहास की वस्तु बन गई हैं, और उनका स्थान ग्रहण करने वाली, उदय होती हुई नयी मान्यताओं की व्याख्या-आलोचक का कर्तव्य होता है। इससे आलोचना का सही स्वरूप सामने आता है। अतः इस असत्य और नये सत्य की पहचान के लिए आलो-चक को मिथ्याभेदी होना चाहिए, अब यह दूसरा प्रश्न है।

सामान्यतः डाक्टर उपाध्याय ने साहित्यरचना के गूढ़ रहस्यों के उद्‌घाटन को ही लक्ष्य कर मिथ्या-भेदी आलोचक की कल्पना की है। पर वह साहित्य-रचना का मिथ्याभेदी बन कर साहित्य विद्या का भी मिथ्याभेदी बने बिना रह नहीं सकता। यह मिथ्या-भेदित्व कैसा होता है, इसे सामान्य

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३१

उदाहरण द्वारा समझाया गया है। उपाध्याय जी का वह उद्धरण हम उद्धृत कर रहे हैं, इसलिए भी कि इस मिसाल में अचेतन स्तर की भाषा को समझाने की प्रवीणता भी प्रकारान्तर से निर्दिष्ट हो गई है—

'दूसरे शब्दों में आलोचक का काम वह है जिसे हम Lie dtection कहते हैं। हत्या हुई है, यह सत्य है, चोरी हुई है यह भी सत्य है। हत्यारा, चोर या षडयन्त्रकारी पकड़ा गया है यह भी सही है। पर असल कठिनाई तो यह है-ये अभियुक्त जो पकड़े गये हैं, सही बात कहते नहीं झूंठ बोलते हैं। ऐसी बातें कहते हैं जिनके द्वारा पता लगाने वाले व्यक्ति गुमराह हो जायें। इनकी जान तो जा ही रही है, कितने व्यक्तियों की जान पर बात आ जाएगी और उनका सारा संगठन ही छिन्न-भिन्न हो जाएगा। अतः कल्याण इसी में है कि जहां तक हो सके लोगों को भ्रम में रखा जाए। आलोचक का काम यह है कि वह इस सुरक्षापंक्ति को किसी तरह भेदकर समस्या की तह तक पहुंचे। मेरी कल्पना में आलोचक Lie detector है उसका काम है यह जो कथा, उपन्यास, कविता नामक घटना घट गई है, हत्या हुई है, चोरी हुई है, षडयन्त्र हुआ है, किसी वस्तु को धोखे के रूप में उपस्थित किया गया है, उसका पर्दाफाश करे। पर प्रश्न यह है, कार्य कैसे किया जा सके? कौन से साधन हैं हमारे पास, जिनके सहारे हम किसी रचना को प्रेरित करने वाली मूल प्रेरणा को देख सकें?'[1]

ये साधन वे ही हो सकते हैं जो मन के अचेतन स्तर की भाषा का उद्घाटन करते हों। अर्थात् मनोविज्ञान के साधनों का महत्व टाला नहीं जा सकता। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है तथा भरत एवं अभिनव गुप्त की भावसम्बन्धी जो मान्यताएं हैं, वे भी अचेतन स्तर की भाषा के लिपि-ज्ञान के सोपान हैं। पदमात्र में, वर्णमात्र में अथवा संकेत-मात्र में ध्वनि का विवेचन किया जाता है, निश्चय ही ये सब अभिव्यक्त वाणी से अतिरिक्त विधाऐं हैं और वाणी से प्रकट बोध के अतिरिक्त अथवा अचेतन की भाषा का पाठ इनमें होता है। उपाध्याय जी इससे आगे बढ़ कर स्व-समागम- केवल शारीरिक क्रियाओं में इस अचेतन की भाषा का दर्शन करते हैं, पर इन शारीरिक क्रियाओं के साथ भाव और उससे अनुप्रेरित वाणी का सम्बन्ध तो रहेगा ही, उनका कहना है—पर एक दूसरी भाषा होती है जो दूसरों से बात करने के लिए नहीं है, स्वसमागम Self communion के लिए है। अपने से बात करने के लिए है। इसमें झूठ बोलने की गुंजाइश नहीं हैं।

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. ८९

क्योंकि जब इसका सम्बन्ध दूसरों से नहीं है तब झूठ का प्रश्न रह ही कहां जाता है। उदाहरण के लिए आपने बहुत से ऐसे लोगों को देखा होगा जो बातचीत करते समय पैर हिलाते रहते हैं, पैर के अंगूठे से जमीन खोदते हैं, कुछ न कुछ हरकत करते रहते हैं। यह कहना अधिक संगत होगा कि ये बातें उनसे होती रहती हैं, वे करते नहीं, क्योंकि इन हरकतों से वे अवगत नहीं है। यह भाषा अचूक होती है। इस भाषा को पढ़ने की क्षमता ज्यों-ज्यों विकसित होगी त्यों-त्यों हम झूठ के पकड़ने की कला में दक्ष होते जायेंगे। आज का मनोविज्ञान इस तरह की भाषा किस तरह पढ़ी जाये इसका संकेत देने लगा है।'[1]

भारतीय साहित्य शास्त्र में नाट्य के विवेचन को लेकर भाव और रस की स्थापना तो बहुत प्राचीन है परन्तु अचेतन की भाषा को, अथवा उस भाषा को, जो आक्षिप्त हो रही है. प्रकट नहीं है, उद्घाटित करने की जिज्ञासा ने ही भाव और रस से आगे बढ़कर काव्य में वक्रोक्ति तथा ध्वनि सिद्धान्तों को जन्म दिया। यह सब भारतीय साहित्य-विद्या की अत्यन्त प्रौढ़ता का परिचायक है। यद्यपि आनन्दवर्धन और कुन्तक के बाद ही इस विधा के उन्मीलन की उपेक्षा हो गई। अतः यह तो निश्चित ही है कि अचेतन की भाषा के विधान की सर्वथा नवीनता स्वीकार नहीं की जा सकती है पर विकास की नूतन सम्भावनाओं को अस्वीकार कौन कर सकता है, हां, प्राचीन भारतीय साहित्य में इसके उदाहरण विद्यमान हैं। अर्थशक्त्युद्भववस्तुध्वनि का उदाहरण है:—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

(कुमारसम्भव ६।८४)

आनन्दवर्धन ने इसे उद्धृत करते हुए लिखा है कि यहां 'लीलाकमल-पत्रगणना' को गौण कर शब्दव्यापार के बिना ही नूतन अर्थ-वस्तुध्वनि (लज्जा) व्यभिचारिभाव प्रकट हो रहा है। शब्द-व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करने वाली अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। जहां केवल शब्द-व्यापार से ही अर्थ की उपस्थिति होती है, वह असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का विषय है।[2] इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लज्जा व्यभिचारि भाव के इस उदाहरण को अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के अन्तर्गत रखा गया है। यहां

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ९०
२. ध्वन्यालोक २।२२

समस्या यह उपस्थित हुई कि व्यभिचारिभाव रस की विधा का अंग है, उसे असंलक्ष्यक्रमध्वनि में प्रकट होना चाहिए वह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का विषय कैसे है ? इसके समाधान में आचार्य ने उक्त निर्णय दिया है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक क्रिया की संजीवनी के लिए मनोभाव की तदनुकूल परिस्थिति अपेक्षित होती है। यहां अचेतन की भाषा ने शब्द-व्यापार के बिना ही वर्ण्यमान वस्तु के नेता (दुष्यन्त) को नितान्त भिन्न परिस्थिति में सक्रिय कर दिया है। इस प्रसंग की व्याख्या स्वयं डा० उपाध्याय-ने की है--"दुष्यन्त ने जब धीवर के पास अंगूठी देखी तब उसके मानस पटल पर प्रणयकथा बिजली की तरह चमक गई और वह शकुन्तला के अपमानजनक प्रत्याख्यान की बात याद कर इस तरह विषण्ण हो गया कि वह, राज्यकार्य की देखभाल कौन कहे, शरीर की सुधि भूल कर अहर्निश चिन्तामग्न हो समय बिताने लगा। इसी समय इन्द्र को राक्षसों के युद्ध में दुष्यन्त की सहायता की आवश्यकता पड़ी। इस समय जो दुष्यन्त की मानसिक अवस्था थी उसमें दुष्यन्त से सहायता की बात कहे कौन ? और यदि बात कही भी जाए तो वह सुनेगा भला ? वह तो शकुन्तला की चिन्ता में सुध-बुध खोए बैठा हुआ है। उसे किस तरह तैयार किया जाये। अतः एक उपाय सोचा गया। माढ़व्य दुष्यन्त का प्यारा साथी था। जब वह दुष्यन्त से मिलने जा रहा था कि किसी अदृश्य शक्ति ने उसे दबोच कर उसके अंग प्रत्यंगों को तोड़ना आरम्भ किया। जब माढव्य की कातर पुकार दुष्यन्त के कानों में पड़ी तो वह मित्ररक्षा की भावना से प्रेरित होकर धनुष बाण लेकर दौड़ पड़ा। बस, क्या था। एक बार जब उसमें वीरत्व के भावों का संचार हुआ तो फिर क्या था। उसी समय इन्द्र के सारथी ने आकर सन्देश दिया और सारी परिस्थिति स्पष्ट की। राजा ने इन्द्र के सन्देश को स्वीकार कर लिया। यदि बीच में माढव्योत्पीड़न वाली बात नहीं आती तो दुष्यन्त का वैसी मानसिक स्थिति में युद्ध में भाग लेना अमनोवैज्ञानिक होता।"[1]

मनोभाव और वाक्य-प्रयोग तथा शारीरिक क्रियाओं का परस्पर अभिव्यज्यमान तथा अभिव्यक्ति का सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध की अधिक सटीक स्थिति शारीरिक क्रियाओं में ही होती है, जो रचनाकार के वस्तु-विन्यास का अंश है और वही अचेतन स्तर की भाषा का सही पक्ष है। अन्त-स्तोय होकर बादल सिन्धु और धरती को छोड़कर ऊपर आकाश में उड़ता

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८८-८९

है, अलक्ष्य भाव क्रिया में अन्तर्हित होकर रचनाकार के स्पर्श तक को वंचित कर देते हैं, वे केवल आलोचक से पराभूत होते हैं, कवि का चेतन स्वयं उस क्रिया में छिपकर अज्ञात बन जाता है। ऊपर जिन दो प्रसंगों की चर्चा की गई है, (१) पार्वती का अपनी विवाह-चर्चा में पिता के पास अधोमुख होकर कमल-पत्रों की गिनती करना तथा (२) शकुन्तला के विरह में उदास दुष्यन्त को इन्द्र की युद्ध-सहायता के हेतु उद्यत करने के लिए माढव्योत्पीड़न द्वारा उसमें वीरत्वभाव का संचार करना-ये प्रसंग ध्वनि तथा नाट्य-रस सिद्धान्त के अन्तर्भूत होकर उद्भावित हुए हैं, और सहज रूप से उपस्थित हो गये हैं, ऐसे और भी अनेक प्रसंग प्राचीन भारतीय साहित्य की सिद्ध-रचनाओं में मिल सकते हैं। पर आज इस अन्तर्भूत स्थिति से बढ़कर स्वतन्त्र क्रिया के रूप में सचेतन होकर रचना-प्रक्रिया में ऐसे प्रसंगों की उपलब्धि अपेक्षित है, जिससे मन के गम्भीरतर अचेतन स्तर के विविध पक्ष हमारे रचनाकारों द्वारा उद्-घाटित हो सकेंगे और इस उद्घाटन का द्रष्टा मिथ्याभेदी आलोचक होगा। प्रक्रिया नवीन तो नहीं है, पर उसे स्वतन्त्र होने की अपेक्षा है—"इस मनः शारीरिक दृष्टिकोण का प्रचलन आधुनिक काल में अधिक है। कुछ लोग इस भ्रम में भी हैं कि यह आधुनिक काल का सर्वथा नया आविष्कार है। पर यह नितान्त सत्य नहीं है। सम्भव है कि इसके सैद्धान्तिक पहलू पर इधर अधिक छानबीन होने लगी हो पर इतना तो सही है कि लोककथाओं में प्राचीन साहित्य में भी ऐसा उल्लेख मिलता है जिसमें स्पष्ट है कि व्यवहार में लोग इस सिद्धान्त से काम अवश्य लेते थे। झाड़-फूंक, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना इत्यादि सबमें इसका प्रयोग प्रचुरतापूर्वक किया जाता था।[1] "कहने का अर्थ यह है कि जिस तरह व्यवहार-जगत् में मनः शारीरिक सिद्धान्त के आधार पर भावशरीर के पारस्परिक भाव प्रभाव की बात को ध्यान में रखकर अनेक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। रोगों की चिकित्सा की जाती है, शासन तथा शिक्षा में इस सिद्धान्त पर ध्यान रखा जाता है उसी तरह कला-साहित्य के क्षेत्र में भी इसका बहुत बड़ा स्थान है। अब तक रहा है, पर अब तक यह सारा व्यापार सहज बुद्धि के स्तर पर चलता रहा है। ये बातें निसर्गतः स्वाभाविक रूप में कला और साहित्य में आती रही हैं। पर अब सचेतन रूप में आनी चाहिए। जब सचेतन रूप में ये बातें आने लगेंगी तो कथासाहित्य में कुछ और ही गुल खिलेगा।[2]

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८१
२. " " पृ० ८९

मनोभाव और शारीरिक क्रियाओं के परस्पर सामंजस्य की उक्त व्याख्या द्वारा भारतीय साहित्य शास्त्र में निरूपित रसों के नैरन्तर्य विरोध और परिहार की बातें भलीभांति समझ में आ जाती हैं। व्यभिचारिभाव, रस तथा स्थायी भावों का शब्द द्वारा अभिधान भी रससिद्धान्त में दूषण माना गया है, प्रकारान्तर से यह ऊपर कही गयी अचेतन भाषा की स्वीकृति ही है। रसदोष की दो बातें—(१) विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति तथा (२) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण–मनःशारीरिक सिद्धान्त पर अधिक स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है। शान्त तथा शृंगार भाव का नैरन्तर्य विरोध है। एक के बाद दूसरे की प्रस्तुति जब भी की जायगी वस्तु-योजना अस्वाभाविक हो उठेगी, अतः तीसरे रस की योजना से इस दोष का परिहार होता है। यह तीसरे रस की योजना और कुछ नहीं है, अचेतन की भाषा का वह वस्तु-प्रत्यय है जो दो भिन्न चेतनों को सम्पृक्त कर देता है। डा० उपाध्याय ने ऐसा दृष्टिकोण अपने निबन्ध में प्रकट किया है—"भाव और शरीर के इस पारस्परिक सम्बन्ध को हमारे अलंकार-शास्त्रियों ने ठीक तरह से समझा था और रस-निष्पत्ति के प्रसंग में इसका अच्छी तरह अनुभावों और सात्विक भावों की चर्चा के प्रसंग में विवेचन किया था। कहने का अर्थ यह है कि भावों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, किस भाव का प्रभाव शरीर पर किस रूप में प्रकट होता है। इन बातों के सम्यक् अध्ययन से हमें झूंठ को पकड़ने में सहायता मिल सकती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर लेखक के झूठ को अथवा लेखक–निबद्ध पात्र के झूठ को भी पहचाना जा सकता है।"[1] अर्थात् इसका अर्थ यह भी है कि कवि का रस-प्रयोग अचेतन की भाषा से ही सही चमत्कार पाता है।

मिथ्याभेदी आलोचक के लिए मनः शारीरिक सिद्धान्त के भाव-प्रभाव का सहयोग इसलिए भी बहुत अपेक्षित है कि कृति की सच्ची आलोचना के लिए सही आलोचक न तो रचनाकार को देखता है, न इतिहास को, न सम्बन्धित पृष्ठभूमियों के विस्तार को, वह केवल कृति को देखता है जो व्यक्त है, वर्तमान है,उसमें ही प्रवेश कर वह सारे रहस्यों का उद्घाटन करता है और सही तथ्यों की उपलब्धि करता है। उपाध्यायजी लिखते हैं "संसार के जितने जीव हैं वे अव्यक्तादि, अव्यक्तनिधन हैं अर्थात् न उनके आदि का पता है और न अन्त का। केवल मध्यवर्तिनी स्थिति का ही परिचय मिल सकता है। मुझसे कोई पूछे तो कहूं कि यह स्थिति केवल जीवों की ही नहीं, किसी भी रचनात्मक कृति या कला की भी है। कला भी अव्यक्तादि, अव्यक्तनिधन तथा व्यक्त-

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८६

मध्या है। अतः नई आलोचना का कथन है कि हमें इसी व्यक्तमध्य स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, रचना का जो शब्दार्थाक्षरात्मक स्वरूप है वही हमारे सामने है, उसी अक्षर पर विचार करना चाहिए।[1]

मिथ्याभेदी आलोचक की ऐसी आस्था साहित्य का सही मूल्य आंकती है और प्रमाद से रचनाकार की रक्षा करती है। अचेतन की भाषा पढ़ने के लिए आलोचक की, जिस क्षमता का उल्लेख डा० उपाध्याय ने किया वह क्षमता भारतीय साहित्य में निरूपित रस के साधारणीकरण की सत्यता का भी नया निकष है। इन व्याख्याओं के बाद आलोचना क्षेत्र के दो प्रश्न अथवा भ्रान्तियां अपने आप निरस्त हो जाती हैं—(१) एक तो यह कि आलोचक रचना के विषय के प्रति किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से अथवा किन्हीं निजी कमजोरियों के कारण प्रभावित हो उठता है और वह उस प्रभाव में रचना का मूल्यांकन करता है, प्रभावात्मक आलोचना का यह मूल्यांकन क्या साहित्य का सत्य है? (२) दूसरी बात यह है कि रचना की सफलता और उसकी उपलब्धियों का लेखा-जोखा करने के लिए आलोचक रचनाकार (कवि या कथाकार) के ध्येय और प्रणयन की प्रेरणाओं का मूल सूत्र खोजता फिरता है, क्या ऐसी आलोचना सत्य को पा लेने में क्षम हो सकती है? दोनों प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में दिया जाएगा। डा० उपाध्याय के निबन्ध में इस 'नहीं' की उपपत्ति की गई है। संक्षेप में उनके विचारों की ऊहापोह आगे उद्धृत है।

यदि आलोचक का मिथ्याभेदित्व उसका नित्य धर्म है तो ये दोनों प्रश्न अपने आप निर्मूल हो जाते हैं। पहले प्रभावात्मक आलोचना को लेते हैं। प्रभाववादी आलोचना करना और रचना की उपलब्धियों का मिथ्या-भेदी धर्म से युक्त होना—ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियां और क्रियायें हैं। जैसे अनासन्न लेखकत्व रचनाकार की समाधि-स्थिति है, ऐसी समाधि-स्थिति जिसमें ऐसी रचना का सर्जन होता है जिसको नूतन रमणीयता और अजरता प्राप्त हो जाती है, वैसे ही आलोचक के लिए अनासन्न पाठकत्व की स्थिति अपेक्षित है तभी वह समीक्षक कार्य में प्रभावात्मक दोष से अपने को बचा सकेगा। तथा, रस के साधारणीकरण के लिए देश कालादि से अनालिंगित होने की जो शर्त है उसी की प्रकारान्तर व्याख्या यह होगी कि आलोचक

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८७

यहाँ पर डा० उपाध्याय ने गीता का श्लोक उद्धृत कर उक्त व्याख्या की है. यह श्लोक उनको बहुत प्रिय है और कई स्थानों पर उनके द्वारा व्यवहृत हुआ है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

को अपने साहित्य-निकष कार्य में प्रभावात्मक स्थिति से सर्वथा मुक्त होना चाहिये तभी वह निकष के सत्य का साधारणीकरण कर सकेगा, अन्यथा नहीं। आलोचक भी रचना की समीक्षा करते समय अपने को भाव से तो मुक्त नहीं कर सकता। पर उसे प्रभाव से मुक्त होना चाहिये। उसमें डूब जाने की कमजोरी नहीं, अवगाहन की क्षमता होनी चाहिये। डा० उपाध्याय लिखते हैं—"साहित्य के लिए तो तन्मयीभवन योग्यता ही यथेष्ट मानी गई है, तन्मीयभाव नहीं। नशा का आलम रहे, मजा का नहीं। मजा दूसरी चीज है, नशा दूसरी। जिस समय प्राण निकलने लगते हैं निकल गये नहीं रहते, उस अवस्था को नशा कहते हैं। सूफी लोग इस नशा के आलम में धुत रहने की ख्वाहिश करते हैं। मजा सिद्धावस्था है। निष्ठाप्रत्ययान्त है। नशा शतृ-शानच् प्रत्ययान्त है। सिध्यमान है। एक गत है दूसरा गच्छन्। साहित्य आपको Actor नहीं बनाता, आप में Actor बनने की शक्ति पैदा करता है, आपको Preparatory to Action रखता है। इसीसे अभिनव गुप्त ने तन्मयीभाव नहीं, तन्मयीभवन योग्यता ही रसास्वाद के लिए पर्याप्त मानी है।[1] क्रियमाण अवस्था में ही त्याग और ग्रहण की वृत्ति होगी तब वहां मिथ्या की उपेक्षा एवं सत्य का स्वागत होगा।

किन्तु आलोचक की अनुभूति (तन्मयीभवन) वही नहीं है जो पाठक की अनुभूति होती है। पाठक रचना की रमणीयता का अवगाहन करता है और रमणीयता के अवगाहन के बाद द्रष्टा एवं सदसत् के नियन्ता की जो स्थिति होती है उसमें आलोचक जन्म लेता है। भावसंचार की आवश्यकता आलोचक को भी है क्योंकि वह रचना की भूमि में प्रविष्ट होने के लिए प्रवेश द्वार है। भावसंचार अर्थात् सहृदयत्व की योग्यता, यह जिसमें हैं, वही तो कवि-कृति का अधिकारी द्रष्टा है। अधिकारी द्रष्टा जब आलोचक बनता है तब उसमें भी एक ऐसे नये कृतित्व का जन्म होता है जिसके लिए सच्चे कवि को भी स्पर्धा होती है। कालिदास ने अपने हृदय की बात की थी, यह छन्द केवल औपचारिक कथनमात्र नहीं है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥

अर्थात् मैं अपने काव्य को सुनने के लिए उन अग्नि-धर्मा सज्जन सहृदयों का प्रार्थी हूं जो सत् और असत् की परख रखते हैं। सुवर्ण की विशुद्धि या खोटापन उसको आग में डालने पर ही प्रकट होता है। प्रकारा-

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११०

न्तर से यह मिथ्याभेदी आलोचक की प्रशस्ति है, यह प्रशस्ति उस युग की है जब विदग्धगोष्ठियों में आलोचक का कृतित्व मौखिक ही प्रकट होता था, पर ऐसे मौखिक कृतित्व के प्रति भी कालिदास जैसे महान् कवि प्रबल उत्सुकता रखते थे। क्योंकि उनकी मौखिक मुहर भी काव्य को उद्भासित कर देती थी।

निष्कर्ष यह है कि पाठक की अनुभूति से आगे द्रष्टा और नियन्ता का विवेक आलोचक का धर्म है। रघुवंश के उक्त छन्द में भी कवि ने अपने काव्य की प्रस्तावना करते हुए यही बात कही है। आनन्दवर्धन ने कवि के लिए एक स्थान पर निर्देश किया है कि "केवल इतिवृत्तमात्र के निर्वहण से कवि का कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध होता, यह तो इतिहास पुराण से ही जाना जा सकता है। काव्य का निबन्धन करते हुए कवि को सर्वात्मना रसपरतन्त्र होकर प्रवृत्त होना चाहिये। उसको यह चाहिए कि रस की प्रतिकूल स्थिति को तोड़कर रस के अनुकूल कथावस्तु का अवतरण करे। इतिवृत्तवर्णन तो उसके रसानुकूल कथावस्तु के संगठन का उपायमात्र है।[1] इस निर्देश को तनिक परिवर्तन से आलोचक के लिए भी प्रयुक्त कर सकते हैं अर्थात् आलोचक को कवि की कृति का भाव प्रभाव केवल उपायमात्र है, उसकी सहायता से आगे बढ़कर वह कृति के आन्तरिक पक्षों की छानबीन करे तथा मनः क्रियाओं के अध्ययन से कृति के उदात्त एवं विधातृ उपलब्धियों का साक्षात्कार करे, असत्पक्षों को दूध से पानी की तरह अलग कर दे। केवल प्रभाव की बात से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह तो पाठक से ही सिद्ध है। ऐसा मिथ्याभेदित्व धर्म आलोचक का जीवन है। उसे सर्वात्मना मिथ्याभेदी होकर कृति के अवलोकन में प्रवृत्त होना चाहिए, तब वह जिन उपलब्धियों को प्रमाणित करेगा, वे उपलब्धियां कवि की कृति और आलोचना दोनों के लिए संजीवनी बन जायेंगी। उनसे ही साहित्य की नई मान्यताएं प्रकाश में आती हैं।

इस प्रकार प्रभावात्मक-आलोचना की मूल्य-हीनता अपने आप सिद्ध हो जाती है। और उसका कोई सत्य नहीं है। पर भाव का महत्व आलोचक के लिए तो है ही, जैसा कि ऊपर कहा गया है। भाव तथा प्रभाव के प्रति आस्था, अनास्था का यही विश्लेषण डा० उपाध्याय भी करते हैं—"हमारे

---

१. ध्वन्यालोक ३।१४,१९

कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम् इतिहासादेव तत्सिद्धेः।.........इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक्।

कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि भाव-संचार का महत्व कला-वस्तु के मूल्यांकन में है ही नहीं। सच तो यह है, प्रकृत वस्तु से भावों की झलक मात्र-सी निस्सृत होती-सी दिखलाई पड़ती है पर धुंधली रहती है, हम उसे सदा देख नहीं सकते, किसी विशेषावस्था में ही देख सकते हैं। उसे ही Handy form में सबके लिये सुलभ कर देना ही कला का महत्व है। जिस साहित्य में भाव-संचरण की क्षमता नहीं, वह निश्शक्त है। पर देखने की बात यह है कि जो भाव नाटक में संचरित हो रहे हैं, उनका मूलस्रोत नाटक या कहानी या कविता में है या नहीं? कहीं यह तो नहीं है कि उन भावों के जगने का, या जिस रूप में उमड़ रहे हैं, उनकी मूलप्रेरणा साहित्येतर वस्तु से तो नहीं मिल रही है। साहित्य से जो अनुभूति प्राप्त होती है, जो-जो भावावेग जागरित होते हैं उनमें कितने संगत हैं और कितने असंगत? यह देखना नितान्त आवश्यक है। साहित्य के रसास्वादन के लिए रसिकता, सहृदयता, भावात्मक प्रतिक्रियात्मकता पहली शर्त तो है ही। यदि ऐसी बात नहीं होती तो हमारा आलोचक 'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख' कह कर क्यों रोता। Emotional response के बिना साहित्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता। परन्तु बात इतनी सी है, जो भाव जगें, उसका आधार साहित्य हो, उसकी मूल प्रेरणा भी साहित्य से आई हो और साहित्य में वर्णित दृश्यों के प्रति ही उन्मुख हो। अर्थात् वह भाव ऐसा हो जिसकी संगति साहित्य से बैठे, वह संगत हो, असंगत नहीं।"[1]

डा० उपाध्याय ने संगत-असंगत भाव की जो चर्चा यहां की है, उसके दो विनोदात्मक उदाहरण भी दिये हैं, एक को उद्धृत कर रहा हूं—"एक आदमी को आंख के नीचे गोली लगी और वह मर गया। सब लोग देखने गये और उसके भाग्य पर तरस खाने लगे। एक मियांजी भी गये। बड़े दुःखी हुए। भावावेश में आकर कहने लगे, खुदा का फ़जल है कि बिचारे की आंख तो बच गई। कल्पना कीजिये कि इसी कथा को लेकर नाटक की रचना की गई होती तो आप मियांजी के इस भावोद्गार को क्या कहते? असंगत ही न? यह याद रखना चाहिये कि साहित्य का संसार यह बाहरी संसार नहीं। उसकी एक अलग दुनिया है, जहां के विशिष्ट नियम हैं, संगति है, उन्हीं के आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिये।"[2]

अब दूसरी भ्रान्ति को लीजिये। जिसमें आलोचना करते समय लेखक के मूलभाव की छानबीन की जाती है। डा० उपाध्याय का कहना है कि

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १११
२. " " पृ० १११-११२

लेखक जिस स्थिति, लक्ष्य और भाव में समाविस्थ होकर रचना में प्रवृत्त होता है, उनको जानने का कोई साधन, केवल उसी रचना को छोड़ कर हमारे पास नहीं है। अतः रचना के साक्षात्कार में प्रवृत्त होना ही लेखक का साक्षात्कार करना है। तथा यह भी है कि यदि हम लेखक के मूल अभिप्राय या ज्ञान को प्राप्त भी कर लें और वह सब रचना से असंगत हो जाता है तो उसका कोई मूल्य रचना के निकष में नहीं होगा, वरञ्च रचना के समय लेखक की भिन्न मनःस्थिति का ही प्रमाण पुष्ट होगा—"लेखक के मूलभाव का प्रश्न उठाना ही भ्रामक है। हमारे पास कोई प्रामाणिक साधन नहीं है, (सिवा, कविता से जो कुछ हो जाय, उसके) कि हम जान सकें कि लेखक का मूल उद्देश्य क्या था। और यह बात भी सही नहीं है कि लेखक के लिये भी उसके उद्देश्य तथा निर्मित कलावस्तु में एकता ही हो। किसी ने आतंकित करने के उद्देश्य से कोई कविता लिखी हो। ऐसा भी हो सकता है कि मैं उसे पढ़कर आतंकित नहीं हुआ, पर फिर भी उसे मैं पसन्द करता हूं। यदि मैं अत्रस्त अथवा आतंकित रह कर भी उस कविता को पसन्द करता हूं तो कवि के intention की बात मेरे मूल्यकांन के लिये असंगत सी है। जहां सम्भव हो वहां कवि के अभिप्राय का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुरा नहीं है पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस तरह का ज्ञान किसी कलावस्तु के मूल्यांकन में सहयोग देने वाले ज्ञान का आवश्यक अंग नहीं है।[1]

इस प्रसंग में गीता के श्लोक "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत........." का उद्धरण तथा उपाध्यायजी द्वारा उसकी व्याख्या भी स्मरण करनी चाहिये, जिसमें उन्होंने कहा है कि संसार के जीव जैसे व्यक्त-मध्य हैं, उनकी आदि तथा अन्त स्थिति का ज्ञान हमें नहीं है उसी प्रकार कवि की कृति की आदि प्रेरणा अथवा अन्त की परिणति के रहस्य क्या हैं, वे हमारे सामने नहीं है, केवल मध्यवर्तिनी स्थिति-रचना का स्वरूप कवि का 'व्यक्त मध्य' हमारे प्रत्यक्ष है, अतः आलोचक को इसी 'व्यक्तमध्य' स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। रचना का जो शब्दार्थात्मक स्वरूप है वही हमारे सामने है, उसी अक्षर पर विचार करना चाहिए।

यहां पर एक प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह है कि जब 'व्यक्तमध्य' रचना के शब्दार्थात्मक अक्षर-स्वरूप पर ही विचार कर उसका मूल्यांकन करना चाहिए तब क्या कारण है कि कुछ रचनाओं को उनके अतीत के होने

1. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११०-११२

के कारण ही गौरव दिया जाता है। उनके व्यक्त शब्दार्थात्मक स्वरूप के विश्लेषण से प्राप्त विशिष्टता के कारण नहीं। डा० उपाध्याय के इस सम्बन्ध में विचार उनके असमंजस को प्रकट करते हैं—"मुझे कभी-कभी इस बात पर आश्चर्य हुआ है कि १२वीं शताब्दी के अति तुच्छ कवि की साधारण सी कृति पर लोग बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखते हैं पर 'जीवितकवेराशयो न वक्तव्यः अर्थात् आज के प्रखर प्रतिभासम्पन्न कवि की श्रेष्ठ कविता की प्रशंसा में कुछ कहते संकोच करेंगे, ऐसा क्यों ? इसका कारण कविता का अतीत्व है। इसी ने कविता को अतिरिक्त सौन्दर्यमूलक शक्ति-सम्पन्नता प्रदान की है।" और भी, पर यह तभी तक है जब तक यह मान लिया जाता है कि वह अतीत में किसी विशिष्ट काल की रचना है। यदि उसकी रचना आज हो और वह समकालीन मानी जाए तो वह इतनी आदरणीय न रह जाएगी। हिन्दी के भक्तिकाल की अनेक कवितायें हमारे लिये गर्ह्य, निन्दनीय और उपहासास्पद होंगी यदि उन्हें अतीत का सहारा नहीं हो। द्विवेदी युग की अनेक रचनायें जो सरस्वती के मुख पृष्ठ को अलंकृत करती थीं आज साधारण सी साप्ताहिक पत्रिका में भी स्थान न प्राप्त कर सकें, पर फिर भी उनमें कलात्मक महत्व अवशिष्ट है कारण कि उनका अतीतत्व उन्हें महिमान्वित बनाये रखता है।"[1]

यह बात अतीत की साहित्यिक रचनाओं के ही सम्बन्ध में नहीं है, अन्य निर्माणों के लिए भी लागू होती है। पुराने ऐतिहासिक खण्डहरों को देखते तथा उसका अनुसन्धान करने में हमारी जितनी प्रबल जिज्ञासा होती है आज के बने हुए या बन रहे विशाल राजकीय भवनों या अन्य इमारतों में कैसे हो सकती है ? जैसे मन के अचेतन स्तर के उद्घाटन अपनी नूतनता से हमें विभोर करते हैं उसी प्रकार मन के चेतन स्तर के जो क्रिया-कलाप किसी अतीत के युग में बीत चुके हैं, समय के साथ जो विच्छिन्न होते रहे हैं, उनको पा कर मन द्वारा अपनी पुरानी पहचान को ताजी करना स्वाभाविक है। अतः ऐसी रचनाओं में ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रवृत्ति से, उनका महिमा-मण्डित हो जाना सत्य के विपरीत नहीं है। किन्तु जहां अतीत की इन साधारण सी रचनाओं के साहित्यिक विश्लेषण में बड़े-बड़े ग्रंथ तैयार होते हैं, वहीं डा० उपाध्याय का असमंजस अपना सही अर्थ रखता है। रचना का व्यक्त स्वरूप जितना है उसके साहित्यिक मूल्यांकन में उतने का ही उपयोग होगा। अतीत की रचना या भविष्य की कोरी कल्पना

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११४-११५

होने से उसको अतिरिक्त गौरव देना साहित्य की मान्यताओं में अराजकता उत्पन्न करता है।

लेकिन लेखक के मूलभाव का प्रश्न उठाना क्यों भ्रामक है? इस सन्दर्भ में डा० उपाध्याय ने एक और भी महत्वपूर्ण समस्या की चर्चा की है। वह यह है कि लेखक के मूल भाव को साक्षात्कार करके भी हम लाभान्वित नहीं होंगे, क्योंकि लेखक जो चाहता है रचना वह नहीं हो पाती, कुछ का कुछ हो जाती है। फिर मूल भाव से रचना की समीक्षा करने में हमारी क्या सहायता होगी—"हम लेखक के मन्तव्य, उद्देश्य, इच्छा की कसौटी पर रचना की सफलता की जांच करते हैं। हम देखते हैं कि रचना के प्रणयन के पीछे कौन सी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा थी, लेखक क्यों पुस्तक लिखना चाहता था, साम्यवाद का प्रचार करना चाहता था, अपनी प्रेयसी के हृदय पर अधिकार जमाना चाहता था ? अपने पाण्डित्य का रोब गालिब करना चाहता था। यह बात कही जा सकती है कि किस ध्येय को लेकर कवि रचना में प्रवृत्त हुआ है उसमें उसे सफलता मिली है तो रचना महत्वपूर्ण है। यहां पर भी कारण और कार्य को एक में मिलाकर गड्डम-गड्ड कर देने की भूल की जाती है। यह प्रत्येक लेखक का अनुभव है कि रचना में उसकी पकड़ से निकल भागने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।........रचना की सृष्टि का प्रारम्भ जहां एक बार हो गया, जहां वह एक बार जीवन-स्पन्दन से स्फुरित हुई है वहां वह स्रष्टा से अलग होकर भी अपना स्वतन्त्र जीवन जीने लग सकती है।"[1] और जब रचना अपने स्वतन्त्र जीवन के लिए समर्थ हो जायगी तब वह अपने कृतिकार के मूलभाव के अनुसार ही चले-यह बहुत अनिवार्य नहीं है। फिर तो वह लेखक के भाव को अपना अनुगामी बना सकता है।

इस संदर्भ में उन्होंने हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यसाकार अज्ञेय जी की स्वयं की स्वीकारोक्ति भी उद्धृत की है। "शेखर एक जीवनी में एक जगह कहा गया है। "साहित्य का निर्माण, मानों जीवित मृत्यु का आह्वान है। साहित्यकार को निर्माण करके और लाभ तो क्या, रचयिता होने का सुख भी नहीं मिलता, क्योंकि काम पूरा होते ही वह देखता है अरे यह तो वह नहीं है जो बनाना चाहता था।[2]" तथा दो एक लेखकों की इस कथन को प्रमाणित करने वाली कृतियां भी हमारे सामने उदाहरण रूप में रखी हैं।

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११९

२. वही, पृ० ११९

किन्तु भारतीय साहित्य-सिद्धान्त में कवि सुसमाहितचेता होकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त होता है, समय के झंझावात से ऊपर उठकर वह अपनी रचना की बात सोचता है अतः, रचना कवि के मूलभाव से कुछ और हो जाती है। यह बात यहां की प्राचीन कविमीमांसा के विरुद्ध है। यहां तो यह कहा जाता है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिभाव्यते ॥

अर्थात् कवि जैसा कुछ निश्चय कर अपने कवि-धर्म में प्रवृत्त होता है, परिभावना की वही परिणति है, भिन्न नहीं। तो भी डा. उपाध्याय की उक्त स्थापना को गलत नहीं कहा जा सकता, सर्वथा सत्य स्वीकार कर लेने की स्थिति भी नहीं है। वह विचारणीय है, साहित्य-चिन्तन का नया प्रश्न है, जिसे यों ही नहीं टाला जा सकता। यह इसलिए कि उनके कथन की सत्यता 'रघुवंश' के रचयिता महान् कवि कालिदास भी प्रमाणित करते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि उनके मूलभाव क्या थे ? पर वे इसका स्पष्टीकरण तो करते ही हैं कि रघुवंशी राजाओं की गाथा गाने में उनकी प्रवृत्ति क्यों हुई, इसे उनके मूलभाव से यदि कोई सम्बद्ध करे तो वह गलत रास्ते पर नहीं होगा। पांचवें अनासन्न लेखकत्व अध्याय में हमने इस विषय पर प्रकाश डाला है। लेखक के मूलभाव के प्रसंग को लेकर यहां उसका थोड़ा और भी विस्तार कर रहे हैं। महाकाव्य का आरम्भ करते हुए कालिदास ने कहा था—"मैं उन रघुवंशियों का वर्णन करने बैठा हूं जो जन्म से लेकर अन्त तक पवित्र रहे, जो किसी काम का आरम्भ कर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, समुद्र तक अर्थात् समस्त पृथ्वी पर जिनका शासन था, स्वर्ग तक जिनके रथ जाते थे, शास्त्र के अनुसार जो अग्नि में हवन करते थे, भलीभांति अतिथियों का सम्मान करते थे, जो अपराध के अनुसार दण्ड देते थे तथा जिनकी चेतना ठीक अवसर के लिए जागृत-प्रबुद्ध रहा करती थी।"[1] और इससे अधिक प्रशंसा वे कालीदास उस दिलीप की करते है जिसके वर्णन से उनके काव्य की कथा आरम्भ होती है, परन्तु दिलीप ही अपूर्णता का उदाहरण बन कर प्रस्तुत है, परस्पर विलक्षण और विरोधी बातें हैं, विधाता ने उसकी रचना महाभूत समाधि से की थी, कालिदास के शब्दों में और भी वह कितना महान् है, कहा नहीं जा सकता, उसके शासन में धरती ने यज्ञ के लिए शस्य की दूध के समान वर्षा की, किन्तु यह क्या, पुत्र की उत्सुकता में उसका जीवन बीत-सा

१. रघुवंश, १।१-९

चला और कोई सन्तान न हुई, इस अभाव ने ही कालिदास के काव्य की कथावस्तु को जन्म दिया, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' कहने के बाद कवि अभाव के आधार पर खंडित सत्य पर बैठकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त होता है। और जब वह रघुवंश की समाप्ति करता है तब रघुवंशी-नरेश 'अग्निवर्ण' का वर्णन उसको इस प्रकार करना पड़ता है—"स्त्रियों के स्पर्श से उस राजा को ऐसा ही आनन्द मिलता था जैसे चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श सुखदायी हो, अतः वह कुमुद के फूल के समान रातभर तो जागता था और दिनभर सोता था। (यथाकालप्रबोधिनाम् के विपरीत)........जैसे विरह में कोई बहुत क्षीण हो जाए ऐसे ही उस राजा का शरीर अत्यन्त विलास के कारण राजयक्ष्मा रोग से ग्रसित होकर सूख गया। उसमें पीलापन आ गया, आभूषण पहनना भी उसे दूभर हो गया। उसकी बोली धीमी पड़ गई और वह नौकरों के कन्धे पर सहारा लेकर चलता था। रघुवंशी राजाओं का वह कुल उसके इस प्रकार क्षयग्रस्त होने पर अस्तित्वहीन हो गया। जैसे एक कला-मात्र शेष चतुर्दशी का चन्द्रमा हो, कीचड़ मात्र शेष जैसे ग्रीष्म ऋतु का ताल हो, तथा जैसे रंचमात्र शेष दीपक की लौ हो।"[1] दोनों वर्णन परस्पर अत्यन्त विपरीत हैं। रघुवंशी राजाओं के जिन महान् गुणों के कारण कालिदास को काव्य लिखने की धृष्टता ने प्रेरित किया, कवि अपने काव्य की परिणति उनके वंशज के उस मात्रा में ही गर्हित दुर्गुणों के वर्णन में करता है। ऐसा क्यों है ?

यहां इस विस्तार में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि कालिदास के युग का इतिहास क्या है ? अग्निवर्ण के वर्णन में किस राजा के पतन की छाया है अथवा जो जन्म से अन्त तक पवित्र, समुद्र तक शासन करते थे, स्वर्ग तक जिनके रथ की गति थी वे कौन थे ? कवि की रचना-प्रक्रिया में ये बातें गौण हैं। हम तो केवल इतना देख रहे हैं कि कवि की रचना में परिणति कुछ है, आरम्भ कुछ है, प्रतिज्ञा कुछ है, दो परस्पर विरुद्ध स्थितियों का संयोग उसे प्रतिष्ठित कर रहा है। तो भी हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि कालिदास ने जो कुछ सोचा, रचना की परिणति उसकी उलटी हो गयी वास्तविक बात यह है कि कालिदास के सामने, रचना का आरम्भ करते समय उनकी कर्तृ दृष्टि में अग्निवर्ण के पतन का ही इतिहास था, इस पतन से ही उत्पीड़ित होकर उनके कर्त्ता ने अग्निवर्ण के मूल पूर्वजों का स्वर्ग को चमत्कृत कर देने वाला इतिहास देखा और अपनी पीड़ा के शमन के लिए उसे

---

१. रघुवंश, १९।३४,१०,११

काव्यरूप देकर गाया । अतः यहां यह प्रश्न तो नहीं उठता कि कवि ने जो सोचा था उसकी उलटी परिणति हुई किन्तु यह सत्य है कि किसी उलटी विषम परिणति ने ही कवि को रचना के सर्जन में प्रवृत्त किया। प्रायः प्रत्येक महान् स्रष्टा की स्थिति यही है। यह बात दूसरी है कि आज के युग में स्थिति कुछ और ही है इसलिए ऊपर जो अज्ञेय जी का उद्धरण दिया गया है वह भी सत्य हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि डा० उपाध्याय ने जो यह सिद्धान्त उद्धृत किया—"प्रत्येक लेखक का अनुभव है कि रचना में उसकी पकड़ से निकल भागने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।" इसे असत्य करने की स्थिति नहीं हैं, न पूर्णतया सत्य ही कह सकते हैं। पर हाँ, इसकी पृष्ठभूमि में एक सत्य बोल रहा है। अतः कवि के मूलभाव का प्रश्न उठना ठीक नहीं है—"रचना जिस सत्स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित है उसके बारे में कुछ पता नहीं चलता अथवा पता चलता भी है तो कम। उत्पत्ति के पहले रचना किस अवस्था में थी, कहाँ-कहाँ से सामग्री चयन कर रही थी या शक्ति-संचय करती थी अथवा उत्पन्न हो जाने के बाद क्या करेगी, किसको कहाँ तक प्रभावित करेगी इस बात को, ईदृक्तया और इयत्तया कौन कह सकता है?"[1]

डा० उपाध्याय के आलोचना-सम्बन्धी सैद्धान्तिक निदर्शन की बात अब यहाँ समाप्त की जाती है। इन सिद्धान्तों की व्याख्या में उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि अवान्तर विस्तारों को समेट कर एक मूलभूत सिद्धान्त पर केन्द्रित होती है। उपाध्याय जी के इन सिद्धान्तों की व्याख्या का विस्तार साहित्य-समीक्षा के उन सभी पक्षों का उद्घाटन है जो आज हमारे सामने हैं तथा वे अतिरिक्त पक्ष भी इसमें समाहित हैं जो आगे प्रयुक्त हो सकते हैं। इनसे नई आलोचना के स्वरूप की स्पष्ट झाँकी हमारे सामने आती है, साथ ही हम यह भी अनुभव करते हैं कि हम यदि आलोचना के सत्य रूप को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो कहीं-कहीं भारतीय सिद्धान्त से आगे हम नहीं हैं; उसके साथ एकता का अनुभव भी हमें होगा। डा० उपाध्याय ने स्वयं उल्लेख किया है —"मैं अपने मन की चोरी कहूं। जब मैं आज की अंग्रेजी-आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ पढ़ता हूं उससे मन में एक बात जगती है कि इसको संस्कृत साहित्य-शास्त्र के वक्रोक्ति-सम्प्रदाय से सम्बन्ध करके देखूं और कहूं कि यह नई आलोचना ले-देकर वहीं पहुंच रही है जहां कुन्तक पहुंचे थे, अथवा पहुंचने की चेष्टा कर रहे थे।"[2]

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ९६
२. ,, ,, पृ० १०६

अब हम डा० उपाध्याय की कुछ ऐसी मान्यताओं-स्थापनाओं की चर्चा कर रहे हैं जो अब तक के व्याख्यान से अतिरिक्त हैं। तथा उपाध्याय जी की समीक्षा में उनके सिद्धान्तों के निर्वचन-स्वरूप जहाँ-तहाँ व्यक्त हुई हैं। इनसे साहित्य की समीक्षा के साथ साहित्य के सत्य पर भी प्रकाश पड़ता है—

(क) डा० उपाध्याय भारतीय साहित्य के प्रणयन की भिन्न दिशा स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति अध्यात्मवादी तथा संश्लेषणात्मक है अतः यहाँ के साहित्य में अवमूल्यन, निराशा तथा अनास्था का जो चित्रण होगा पहले तो उसकी परिणति मूल्य, आशा और आस्था की होगी : तथा पुन: भारतीय लोक-जीवन की स्वीकृति भी अभी उसे मिलना असम्भव है—"शायद भारत में यह छिन्न-भिन्नता कभी भी नहीं आएगी। भारतीय संस्कृति अध्यात्मवादी तथा संश्लेषणात्मक है। वह कभी भी जोड़ने वाले आन्तरिक तार को टूटने नहीं देगी। कम से कम अभी वह स्थिति आने में देर है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति भी परमाणु-विस्फोट करने में हिचहिचा रही है। वह पारमाणविक शक्ति का प्रयोग करने के विरोध में तो नहीं है पर उसे रचनात्मक कार्य में नियुक्त करना चाहती है, विध्वंस करने में नहीं, तथा तोड़-फोड़ में नहीं। यही कारण है कि दूसरी ओर विघटन-मूलक उपन्यासों की रचना भी हिन्दी में नहीं हो सकी। अभी भी भारतीय जीवन में कुछ मान्यता-प्राप्त मूल्यों का सर्वथा तिरोभाव नहीं हुआ है। हिन्दी उपन्यास भले ही अवमूल्यन की, निराशा की, अनास्था की बातें करें पर उनका व्यंग्य मूल महत्व का, आशा का, आस्था का, प्राणों के संचार का है। हाँ, हिन्दी कहानियों में इस तरह के आसार जरूर नजर आ रहे हैं पर यह तो वयःसन्धि की बहक के सिवा और कुछ नहीं, जो जरा रौव में आकर तोड़-फोड़ करने लगती है। विवेकचिन्तनशील भारतीय मनीषा इसे कभी भी पनपने नहीं देगी। यूरोपीय इतिहास के लिए यह भले ही नया दृश्य हो पर भारतीय इतिहास ने इससे भी भयंकर दृश्य देखे और उनका सफलतापूर्वक सामना किया है।"[1]

(ख) साहित्यकार की सीमा को राजनीतिक या सामाजिक मतवादों में संकुचित नहीं करना चाहिए। इस संकीर्णता को पैदा करने वाली समीक्षा साहित्य के मूल्य का अवमूल्यन करती है। साहित्यकार के व्यापक दृष्टिकोण का आदर समीक्षक को करना चाहिए। "साहित्य या कला के मूल्यांकन के सम्बन्ध में कोई भी दृष्टिकोण अपनाया जाय, किसी भी मापदण्ड से काम

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : और मेरी मान्यताएं, पृ० १२८

लिया जाय, देखने की बात केवल इतनी है कि वह ऐसा न हो जो कलाकार की कल्पना के पैरों को छान कर रख दे, उसके बोध को पृथक् कर दे।....... साहित्यकार के लिए सबसे खतरनाक चीज यह नहीं है कि जिन बातों को वह कह रहा है, वे सही नहीं हैं, जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है, वह दूषित है, जिस पक्ष की वह वकालत कर रहा है वह कच्ची नींव पर स्थित है। उनका गलत होना या सही होना, साहित्य की कसौटी नहीं है। साहित्य की महत्ता को नष्ट करने वाली चीज भूल नहीं है परन्तु दृष्टि-संकोच है, यह नहीं कि वह गलत निष्कर्ष पर पहुंचता है परन्तु यह कि वह अनुभूति के द्वार को हमारे लिए कितना अवरुद्ध कर देता है.......किसी विशेष मत की ओर से ज्यादा से ज्यादा इतनी ही बात का दावा किया जा सकता है कि आप साहित्य में जिस ताकत, बल या Vitality की मांग कर रहे हैं वह तो ठीक है। पर कुछ मत ऐसे होते ही हैं जिनमें इस Vitality को खुलकर आने देने की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है, उनका स्वरूप ही ऐसा होता है कि साहित्य की यह Vitality बड़ी सहूलियत से, बिना किसी विघ्न-बाधा के या कम से कम विघ्न-बाधा का सामना किये बिना अपने सशक्त स्वरूप को प्रकट कर सकती है।......और कुछ मत ऐसे होते हैं जो इसे साहित्य क्षेत्र में आने नहीं देते हैं, उसका गला घोंट देते हैं और यदि वह इनके अवरोधों को ठेलती हुई आ भी गई तो आते-आते उसकी अधिकांश शक्ति व्यतीत हो जाती है।......अतः हमारे मार्क्सवादी औचित्य के साथ कह सकते हैं कि आधुनिक युग के वे साहित्यकार जिनकी कल्पना जिस अनुपात में वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं जगती, उस अंश में जीवन की वास्तविकता, जिनमें वे शक्ति प्राप्त करते हैं उसके सच्चे स्वरूप को समझने और समझाने में असमर्थ रहते हैं। इस तरह की पलायनवादिता साहित्य के लिए खतरनाक है। इसी तर्क के सहारे आगे बढ़ें तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस त्वरा और अतिवादिता के साथ हमारे मार्क्सवादी साथी साहित्य को वर्गसंघर्ष के फार्मूले पर काट-छांट कर रख देते हैं, वह साहित्य को बहुत सस्ता बना देता है।"[१]

(ग) डा० उपाध्याय जी ने यह प्रतिपादित किया है कि साहित्य में शाश्वत मान्यता का स्थान नहीं है, मान्यताएँ युग-बोध के साथ विकसित होती रहती हैं। अतः ऐसी स्थिति में दो साहित्यकारों की तुलनात्मक समीक्षा करना कि एक दूसरे से श्रेष्ठ है, व्यर्थ की माथापच्ची करना है। ऐसी समीक्षा

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११४-११५

मूल्यवान् नहीं है। इस सम्बन्ध का उद्धरण इसी अध्याय में पीछे दिया जा चुका है।[1]

(घ) उपन्यास का कथा-रस नाट्य-रस से कहीं अधिक तेज और गहरी अनुभूति देता है, क्योंकि उपन्यास में मानसिक दीप्ति को जितना अवकाश और विस्तार रहता है वह नाटक में कदापि सम्भव नहीं है—"नाटक पढ़ने वालों से यह बात छिपी नहीं होगी कि नाटकों में पात्रों की स्वगतोक्तियां कितने महत्व की होती हैं और पात्रों की मानसिक प्रक्रिया और उनकी प्रवृत्तियों को समझने में उनसे कितनी सहायता मिलती है, फिर भी ये स्वगतोक्तियां मनुष्य के व्यक्तित्व की तह में वर्तमान पूर्ववाचिक धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उसकी विच्छिन्नता, बिखराहट अव्यवस्था का सही रूप उपस्थित नहीं करती। इनमें भी एक संगठन होता है, संगति होती है, तर्क होता है और जिस वक्त उक्तियां लिखी जाती हैं उस वक्त नाटककार के सामने श्रोतागण उपस्थित रहते हैं और नाटककार का ध्येय यह होता है कि श्रोताओं को किसी समझ में आने वाले तथ्य का ज्ञान उपलब्ध हो। इतना ही नहीं, उसके सामने नाटक की कथा-वस्तु भी उपस्थित रहती है और वह चाहता है कि उस कथावस्तु के विकास में भी इन स्वगतोक्तियों से सहायता मिले। कहने का अर्थ यह है कि नाटककार पर कितने बन्धन रहते हैं और वे बन्धन मानों चेतना की मौलिक अव्यवस्था, उच्छिन्नता तथा क्रम-हीनता, मण्डूकप्लुति के चित्रण में बाधक होते हैं।"[2] और उपन्यासकार ऐसे सभी बन्धनों से मुक्त होता है, नाट्यरस को कृत्रिम निर्झर भी कह सकते हैं पर कथारस मानव के पहाड़ को तोड़ कर स्वतः प्रवाहित, स्वयं की संजीवनी से युक्त होता है।

(ङ) हिन्दी-उपन्यास की सर्वश्रेष्ठ कृति (युगान्तरकारी रचना) अभी भविष्य के गर्भ में है—"कुछ लोग उपन्यास-कला की मृत्यु की बात कहते हैं। मेरा मन इसे नहीं मानता, क्योंकि इसके कोई लक्षण दीख नहीं पड़ते। पर इसे एक दिन मरना तो है ही। सृष्टि स्वयं मरणधर्मा होती है। जन्म ही मृत्यु-पूर्वक होता है। उपन्यास अपनी परिपक्वता को पहुँच रहा है। इसी अवस्था में वह अपना सर्वोत्तम कृतित्व देने की परिस्थिति में हो सकेगा। किसी ने कहा है कि "साठा सो पाठा।" वह तो होगा शायद मसखरा ही, पर हंसी-हंसी में ही उसने लाखों रुपये की बात कह दी। जवानी की बड़ी

---

१. देखिये पीछे, पृ० १६३

२. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३

दुहाई दी जाती है। पर वास्तव में वह दीवानी होती है, उछल-कूद तो बहुत करती है पर उसको सार्थक करती है—प्रौढ़ता। प्रौढ़ता, मतलब बुढ़ापा। मेरी कल्पना है कि हिन्दी-उपन्यास का यह बुढ़ापा सार्थक हो। वह पत्थर पर पिस गया, उसकी हिना रंग लायेगी। हम प्रतीक्षा करें। उपन्यास मरेगा जरूर, पर इसके पूर्व वह अवश्य ऐसी चीज दे जायगा कि लोग बहुत दिन तक उसे याद करते रहेंगे।"[1]

(च) स्वच्छन्द, सहज और मुक्त मन से कला और साहित्य की जैसी सहज सृष्टि हो सकती है, उसका वास्तविक आत्मस्वरूप जितना निखर कर सामने आएगा, सुसंस्कृत और नागरिक ढांचे में उसकी वह सम्भावना नहीं है। इस दृष्टि से भारतवर्ष में अजन्ता आदि के चित्रों में जो महत्तम उपलब्धि मिलती है, वह महान् उपलब्धि साहित्य में नहीं है—"हमारे मस्तिष्क में जो एक सुन्दरता का ढांचा तैयार है अर्थात् दैनिक जीवन में जिस वस्तु को, मनुष्य को या पशु को सुन्दर कहते हैं, ठीक उसी तरह की वस्तु, मनुष्य या पशु का चित्र हमारे सामने अजन्ता की गुफाओं में मिलता है? नहीं, वहाँ किसी वाह्य पदार्थ का अनुकरण करने, संसार में सुन्दर कहकर पुकारी जाने वाली वस्तुओं के समान सुडौल, आनुपातिक ढंग से संगठित चित्र उपस्थित करने का प्रयास बिलकुल दिखलाई नहीं पड़ता। अजन्ता के भृंग का, पुष्प का, स्त्री का चित्र ठीक वैसा ही नहीं, जैसा हम रोज के जीवन में देखने के अभ्यस्त हैं, उनमें कोई कनवेंशनल अनुपात का क्रम नहीं है। मानो कलाकार अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में स्वतंत्र हो, किसी बन्धन से बंधा न हो, अपनी अन्तः प्रेरणा, भावना और आवेग को ही कागज पर उतार कर रख देने के सिवाय उसकी कोई इतिकर्त्तव्यता हो ही नहीं। वे चित्र हमारे मानस-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व भले ही न करते हों—और मैं यह कहने का भी साहस कर सकता हूँ कि अदीक्षित मनुष्य उन चित्रों के महत्व को शायद ही स्वीकार करे—पर, क्या वे एक सहृदय कला-मर्मज्ञ को अपने भावों के उन्माद में डुबाये विना रह सकते हैं? हृदय की गहराई का जहाँ तक चित्रकला से सम्बन्ध है वहां तक यह कहा जा सकता है कि भारत की प्रतिभा ने इस क्षेत्र में अपनी स्वन्त्रता की पूरी-पूरी रक्षा की है और आजादी के साथ अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति भी की है। एक बात मैं कहूँ—लेकिन डरते-डरते कह रहा हूँ—कि भारतवर्ष के सच्चे और वास्तविक आत्मस्वरूप की उपलब्धि—

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८१

यहाँ पर अधिक रूप में हुई है, शायद उससे भी अधिक जितनी साहित्य के क्षेत्र में हुई है।"[1]

(छ) डा० उपाध्याय ने अजन्ता के चित्रों में जिस कनवेंशनल अनुपात की, क्रम-हीनता की प्रशंसा की है, वस्तुतः यही स्थिति साहित्य की विधा में भावों के क्रम-हीन उस चित्रण की होती है जिसे रस के व्याख्याकारों ने "भाव-शवलता" कहा है, सच में यदि कसौटी की जाये तो यह "भाव शवलता" पूर्ण रस-परिपाक की अपेक्षा हमारे मानस को अधिक तल्लीन करती है, या झकझोर देती है। अन्यत्र डा० उपाध्याय जी ने मनुष्य के जिस चेतन स्वरूप के चित्रण के प्रति मनोवैज्ञानिक कथाकार को सजग किया है, वह सन्दर्भ "भाव-शवलता" की ही अद्यतन व्याख्या है—"आप एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो दौड़कर एक लक्ष्य पर पहुँच जाना चाहता है। उसके दो रूप हैं—एक में वह दौड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है और वही रूप साधारणतः लोगों को दिखलाई भी पड़ता है, परन्तु उसका एक दूसरा रूप भी है जिसमें वह सोचता है, विचार करता है, उच्छ्वसित होता है, निश्चय करता है। यही रूप उसके सब रूपों का जनक है और इस रूप को जो कथाकार दिखलाता है वही मनोवैज्ञानिक कथाकार कहा जाएगा।"[2]

---

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ७८
२. वही पृ० ३

७ | उपाध्याय जी की भाषा

जैनेन्द्र के उपन्यासों की भाषा का विश्लेषण करते हुए डा० उपाध्याय ने एक स्थापना की बात कही है—"अपने दोष दूसरों के उधार लिए हुए गुणों से कहीं अच्छे हैं। आखिर कौआ मोर के पंख के बल पर कितने दिन चल सकता है? लड़के तो अपने प्रोफेसरों की आलोचना करते ही रहते हैं। एक बार एक लड़के ने एक प्रोफेसर के व्याख्यान देने के ढंग पर टीका-टिप्पणी करते हुए कहा—डा०...जब किसी विषय पर व्याख्यान देने लगते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो बातचीत कर रहे हों, पर वह इतना सुन्दर और प्रभावशाली होता है कि बस, मत पूछो। उसी तरह हमसे पूछा जाय तो हम कहेंगे कि जैनेन्द्र की रचना में सर्वत्र यही चर्चात्मक शैली और भाषा पाई जाती है। उनकी पुस्तकों को पढ़ते समय मालूम होता है, मानो लेखक आपसे बातचीत कर रहा हो। उस बातचीत में कहीं कुछ गर्मी भी आ जाती हो, पर ठीक उसी सहज और स्वाभाविक ढंग से, जैसे हम और आप कभी-कभी बातचीत करते गर्म हो उठते हैं।"[1] अर्थात् बातचीत के ढंग की भाषा साहित्य के रचना-सौष्ठव के प्रतिकूल है, किन्तु इसी ढंग की भाषा जैनेन्द्र के उपन्यास में गुण बन गई है, उससे उपन्यास के वस्तु-गठन में सहजता तथा रमणीयता में गहराई आ गई है। हम समझते हैं कि यह विश्लेषण जैनेन्द्र की उपन्यास भाषा से अधिक स्वयं समीक्षक की अपनी भाषा का भी परिचय है। समीक्षक के लिए साहित्य के प्रणयन में जो भाषा आदर्श है, आश्चर्य है वही भाषा उसके साहित्य के चिन्तन को भी चमत्कृत कर रही है। आदर्श को समीक्षक स्वयं ग्रहण किये हुए है। कुछ अन्तर अवश्य है। पर पद्धति भिन्न नहीं है। आलोचना के क्षेत्र में जिस भाषा का प्रयोग डा० उपाध्याय ने किया, हिन्दी की नई आलोचना के लिए यह वास्तव में नई बात है। उनकी भाषा प्रोफेसर की जैसी भाषा है, जिसमें वे उन अनावश्यक विस्तारों को भी

---

१. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ६३

स्थान देते हैं, जिनके द्वारा विषय के सर्वथा स्पष्टीकरण के प्रति वक्ता उन्मुख होता है। उनके वाक्य छोटे होते हैं और विषय के विचारात्मक होते हुए भी अर्थ पाठ के साथ हमें समर्पित होता चलता है तथा यह भी है कि उसमें कहीं-कहीं अर्थ की आवृत्ति पाई जाती है। अर्थ की यह आवृत्ति विषय को अत्यन्त स्पष्ट करने का व्यसन होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह सब साहित्य के व्यास की माया है।

इनकी भाषा का अथवा आलोचना पद्धति का अपना एक अन्य वैशिष्ट्य विनोदप्रियता है। विनोदप्रियता के लिए छोटे वाक्य और बातचीत की भाषा सर्वथा अनुकूल होती है। अतः यहां तीनों संयोग एकसाथ इकट्ठा होते हैं। किन्तु यह न समझना चाहिए कि यह विनोद विषय के बहिर्भूत होता है। आलोचना ही कुछ समय विनोद के माध्यम से बोलती है। विनोद के ऐसे प्रसंग-हेतु उन्होंने संस्कृत की सूक्तियों और उर्दू के शैरों को भी सहारा लिया है।

पहले केवल विनोदात्मक पद्धति के कथन का उदाहरण लीजिए—
"अब मैं विषय के एक दूसरे पहलू की ओर आता हूं। अनेक लोगों ने विस्तार-पूर्वक बतलाया है कि रवीन्द्र ने क्या-क्या किया। मैंने भी ऊपर कुछ-कुछ कहा ही है। पर अगाध सागर की कोई थाह पा सका है? और उडुपेन सागर का तितीर्षुवत् या उद्बाहुरिव वामन आकाश को छूने की चेष्टा करूं तो कालिदास कसम दे ही गये हैं। अतः इस सागर के गर्भ में क्या से क्या छिपा पड़ा है, कितने प्रकार के रत्न भरे पड़े हैं, बडवानल का दाह है कि अमृत की बूंदे हैं, ये सब बातें कहने की पात्रता मुझमें नहीं है। मैं तो यही कहना चाहता हूं कि रवीन्द्र ने क्या नहीं किया! यह कहना सहज भी है, कारण कि उनके कृतित्व की संख्या बहुत है पर अकृतित्व कम ही है।"[1] यह उद्धरण 'रवीन्द्र कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' निबन्ध का है। अन्य आलोचकों ने यह बताया है कि रवीन्द्र ने क्या-क्या किया है, प्रस्तुत आलोचक भी यही बताने को समुत्सुक है, पर वह कहता है कि मैं तो केवल यह बताऊंगा कि उन्होंने क्या नहीं किया। बात वही है। किन्तु आलोचक ने इस विनोद में कई बातें कह दी हैं। आलोचना में वक्रोक्ति का यह प्रयोग विरल ही मिलेगा।

अपने ऐसे प्रसंगों से डा० उपाध्याय जी आलोचना के थके हुए पाठक को कुछ क्षण रिझाने का काम कर देते हैं और रिझाने के ये क्षण ऐसे ही

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ६६

नहीं होते, आलोचना के किसी तत्व की उपलब्धि में बीतते हैं—"हम लोगों को एक बात पर सहमत हो जाना चाहिए कि जब हम साहित्य पढ़ते हैं तब उसमें क्या ढूढंते हैं ?...अथवा यह ढूढंते हैं कि साहित्य के निर्माण के पीछे जो आत्मा बोल रही है वह कैसी है। किसी उर्दू के शायर ने पूछा था कि 'दिल को ढूढंते हैं या कातिल को ढूंढते हैं !' उसके उत्तर में किसी ने कहा—'दिल हो उन्हें मुबारक, जो दिल को ढूंढते हैं। हम तो दिल से हाथ धोकर कातिल को ढूंढ़ते हैं।' मेरा अपना ख्याल भी यही है कि मैं कातिल को ही ढूंढता हूं। मैं साहित्य के मूल्यांकन के समय यही देखना चाहता हूं कि साहित्य का प्रणेता कितना महान् व्यक्ति है।"[1] साहित्य में क्या ढूंढ़ने के लिए एकमन होना चाहिए, इस प्रतिपत्ति के लिए सैद्धांतिक व्याख्यान के पूर्व दिल और कातिल का उदाहरण रखकर आलोचक ने न केवल हमारा मनोरंजन कर दिया, अपना कथ्य भी प्रमाणित कर लिया।

कहीं-कहीं उनके ऐसे उद्धरण निदर्शना अलंकार का उदाहरण बन जाते हैं। अलंकार का उदाहरण भी और डा० उपाध्याय की आलोचना भी दोनों का संयोग देखिए। 'उपन्यास और मनोविज्ञान' के अध्याय के इस गद्य-खण्ड को देखें और समझें—'बहुत से उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा पाठकों की सहायता करते हैं। किन्तु यदि उनकी ओर से कुछ सहायता नहीं भी मिले तो पाठक अपनी सहायता स्वयं करेगा। संस्कृत का एक श्लोक याद आ रहा है—

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

अर्थात् वानरों के समूह ने तो केवल समुद्र को पार कर लिया परन्तु इसकी गम्भीरता को तो पातालनिमग्न पीवरतनु कृशकाय मन्दराचल ही जान सका है। उसी तरह घटनाओं की जोड़-तोड़, उनकी कारीगरी इत्यादि पर रीझने वाले तो बहुत से मिल जायेंगे। परन्तु उनके मनोवैज्ञानिक पहलू को जानने के लिए पाठक में अधिक सूक्ष्मदर्शिता की आवश्यकता पड़ेगी।"[2]

संस्कृत के ऐसे श्लोक और उर्दू के शायरों की उक्तियां डा० उपाध्याय को अपनी आलोचना की धारा में बहुत याद आती रही हैं। और इसमें क्या सन्देह कि अद्यतन नवीन साहित्य शास्त्र को समझने-समझाने के लिए उन्होंने

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ११६
२. डा० रांगेय राघव। उपन्यास : 'मेरी मान्यताएं' पृ० ७३

पुराने साहित्य की वाणी का सर्वथा नये पाथेय के रूप में प्रयोग किया है और कहीं-कहीं उस साहित्य की वाणी में घुले-मिले मक्खन को निकाल कर बाहर कर लिया है। पर उनकी इस पद्धत्ति को विनोदात्मक ही कहेंगे, व्यंग्यात्मक नहीं। डा० उपाध्याय की यह विशेषता है कि उन्होंने व्यंग्य कथन की ओर अपने को बहुत कम अग्रसर किया है, जो कुछ कहा है विनोद में कहा है। कुछ इने-गिने स्थलों में ही वे व्यंग्योक्ति करते नजर आते हैं। उनकी यह विनोद-पद्धति इसलिए भी बहुत शक्तिमान हो जाती है कि इस पद्धति के अनुकूल ही उनके वाक्य छोटे होते हैं और शब्दों का चुनाव कथ्य के अनुसार बहुत जोरदार होता है। और ये सब विशेषताएं वक्ता के वैशिष्ट्य को प्रकट करती हैं जो सहज भाव में स्थित होकर बोल रहा है—सहज भाव में स्थित होकर अर्थात् सत्य को पाकर।

कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे बिल्कुल निजी गोष्ठी में बोल रहे हैं; आलोचना नहीं लिख रहे हैं। अपने कथ्य को सिद्ध करने का लौकिक से लौकिक नमूना पेश कर देते हैं—"हम उचित साधनों का उपयोग कर ही, उचित समय पर ही उचित मार्ग से चलकर ही अपने लक्ष्य पर पहुंचते हैं। कबीर ने कहा है कि—

> हंसि हंसि कन्त न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
> हांसी खेले पिय मिले, कौन दुहागिन होय॥

पर दिवास्वप्न द्रष्टा ऐसी ही सुहागिन होता है जो हंसी खेल में ही प्रिय को प्राप्त कर लेना चाहता है। रोने के लिए धैर्य उसे नहीं रहता। उसके लिए यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि स्रष्टा भी वही, भोक्ता भी वही, तब यह विलम्ब क्यों? जब मां ही पूरी पका रही है तो उसका पूत तरसे क्यों?"[1] यहां अन्तिम वाक्य पर ध्यान दीजिए।

पर कहीं-कहीं ऐसी मिसाल केवल मिसाल रह गई है, आलोचना के लिए उससे कोई उपलब्धि नहीं होती है। यद्यपि ऐसे स्थल इने-गिने ही हैं। जैसे आगे के इस उद्धरण में द्रौपदी की चर्चा, आलोचक की तुलनात्मक स्मृति सी लगती है और उसका क्या उपयोग है यह नहीं कहा जा सकता—"विवाह के बाद तथा विवाह के अवसर पर भी वह गेरिसाल्डा तथा उसके पिता का हर तरह से अपमान करता है। यहां तक कि वह भरी सभा में गेरिसाल्डा को नग्न कर देता है। दुर्योधन ने द्रौपदी को नग्न करने की चेष्टा की थी पर

1. साहित्य तथा साहित्यकार, पृ० ११०

कृष्ण ने वस्त्रावतार धारण कर उसकी लाज रखी। पर गेरिसाल्डा की लाज की रक्षा के लिए कोई कृष्ण दौड़कर नहीं आया। विवाह के पश्चात् भी यह सदा, गेरिसाल्डा को इस बात की स्मृति दिलाता है कि वह निम्न वर्ग से उत्पन्न नारी है।"[१] हां, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी ऐसी मिसालें भी एक कौतुक के साथ पाठक के उस आयास में कमी लाती है जो उसे तथ्य को समझने के लिए करना पड़ता है।

अन्यत्र उन्होंने कवि की उक्तियों को प्रस्तुत कर एक साथ तीन-तीन दृष्टिकोणों की सिद्धि प्राप्त की है, अर्थात् विनोदात्मक कथन पद्धति का सामञ्जस्य है, आलोचना का सिद्धान्त उस कथन से निःसृत हो रहा है तथा डा० उपाध्याय अपने प्रतिपक्ष को निरुत्तर भी कर रहे हैं। उदाहरण के लिए देखिए, एक प्रश्न है कि फ्रायड सही है या मार्क्स, यदि सैद्धांतिक विवेचन में उलझा जाय तो १० पृष्ठ लिखने के बाद भी कोई इदमित्थम् उपलब्धि नहीं मिलेगी। हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में इस विवाद में अपनी-अपनी बात सिद्ध करने के लिए लोगों ने सिद्धांतों की छानबीन की ही है, पर उपाध्याय जी केवल १० पंक्तियों में ही ऐसी बात विनोद के लहजे में कह देते हैं कि सिद्धांत अपने-अपने में उलझते रहे हैं, सत्य क्या है यह तो हमारे मन में पैठ ही जाता है— "हिमांशु जी के उपन्यास 'लोहे के पंख' में का गरीब मजदूर एक दिन अपनी बीवी 'सनिचरी' को सिन्दूर से टिकाए देखता है। उसके हृदय में कामभाव का उदय होता है और सनिचरी की ओर से आग्रह भी होता है पर जब उसे याद आता है कि बगल में ही भूख से बिलबिलाता बच्चा सोया पड़ा है तो उसके हृदय में विरक्ति हो जाती है। धिक्! भला ऐसे अवसर पर यह बात सोचनी चाहिए। एक आलोचक ने कहा है कि मगरू की यह विरक्ति फ्रायड के मुंह पर मार्क्स का जबरदस्त तमाचा है। जो हो, फ्रायड और मार्क्स की यह हस्ताहस्ति और केशाकेशि सदा होती रही है और रहेगी। जब तक गरीब भूख का मारा किसान कहता है—

भुखवा के मारे बिरहा बिसरिगा, भुल गई कजरी कबीर।
देखि के गोरी के उगत जोबनवा, उठेला करेजबा में पीर॥

तब क्या यह मार्क्स के मुंह पर फ्रायड का तमाचा नहीं। वास्तव में समसामयिक हिन्दी उपन्यासों का एक बृहदंश इस तमाचेबाजी से भरा पड़ा हैं।"[२] यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उपाध्याय जी ने कविता की जो

---

१. डा० रांगेय राघव। उपन्यास: और मेरी मान्यताएँ, पृ० १६१

२. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० १००

पंक्तियां उद्धृत की हैं, यह लोक-कवि की रचना है, राजनय तथा समाज-दर्शन से दूर रहने वाले कवि की। अतः हृदय का सहज सत्य उनमें फूट पड़ा है—यह स्वीकार करना पड़ेगा।

छोटे वाक्य एवं सरल शब्दावली उपाध्याय जी की अपनी विशेषता है। उन्होंने ऐसे अवसर कम आने देने की चेष्टा की है, जहां उनको वाक्य को लम्बा स्वरूप प्रदान करना पड़े। संस्कृत, उर्दू के प्रचलित शब्दों के साथ अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग में उनसे एक शिकायत पाठकों को है, वह यह है कि उनकी समीक्षा में प्रायः अंग्रेजी शब्द अपनी मूल रोमन लिपि में लिखे होते हैं, उनका हिन्दी भाषान्तर तो रहता ही नहीं, देवनागरी–लिप्यन्तर भी नहीं रहता। पाठकों का कहना है कि इससे तथ्य को समझने में बड़ी विरसता पैदा होती है। ऐसा क्यों है ? यह मैं समझ नहीं सका। क्या उपाध्याय जी ने पाठकों की स्थिति आकलन नहीं की, अथवा उसकी उपेक्षा करदी ? पर यह सत्य नहीं हैं। व्यास शैली का आलोचक ऐसा कभी नहीं कर सकता, वह स्वयं में भी पाठक होता है। किन्तु दूसरी ओर तथ्य यह है कि जहां–तहां अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली ज्यों-की-त्यों रोमन लिपि में वाक्य के बीच रख दी जाती है। उपाध्याय जी ने अपने पिछले ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति को भरसक कम किया है। ऐसे प्रयोग का कारण सम्भवतः यह है कि पारिभाषिक शब्दावली का सही–सही भाषान्तर नहीं किया जा सकता। जब उसे हिन्दी शब्दावली का रूप दे दिया जाता है तब उससे अन्यथा अर्थ ग्रहण की आशंका बढ़ जाती है। कुछ स्थलों पर उपाध्याय जी ने जहां उनका भाषान्तर किया है कि सम्भवतः उसे हिन्दी में कहें तो (यह) कह सकते हैं ? उनके ऐसे कथन से दृष्टिकोण का मूल समझ में आ जाता है। इस सम्भवतः से बचने के लिए ही उन्होंने अंग्रेजी शब्दों को ज्यों-का-त्यों रखने की पद्धति अपनायी और सत्य की विकृति में भागीदार न होने की सावधानी अख्तियार की। भाषाविदों का यह मत तो है ही कि पारिभाषिक शब्दावली का सही भाषान्तर करना कठिन समस्या है। किन्तु इस सारी सत्य परिस्थिति के होते हुए भी उपाध्यायजी की भाषावृत्ति का उक्त लघुतम अभाव भुलाया नहीं जा सकता।

संस्कृत के शब्द तो उपाध्याय जी ने प्रायः वे ही प्रयोग किये हैं, जो प्रचलित हैं। किन्तु पारिभाषिक शब्दावली के रूप में तथा ऐसे सामान्य प्रयोग के लिए भी कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृत-पद्धति के नये शब्द गढ़े हैं और इस गढ़ने में स्वच्छन्दता बरती है। इनमें वे शब्द जो पारिभाषिक शब्दावली न होकर केवल प्रयोग के लिए गढ़े गये हैं, मनोवैज्ञानिक आलोचक की क्रिया-वृत्ति

का परिचय देते हैं। भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से उनका अध्ययन काम का होगा, पर यहां यह हमारा विषय नहीं है। इन शब्दों की सख्या पचास के लगभग होगी। ऐसे कुछ शब्दों के नाम हैं—मनोआत्मचरितात्मक दृष्टिकोण, भूम्यन्तर्गामित्व, यथामनोविज्ञानानुगामी, गम्भीरतयौघजवोमिफेनिला, भयानकावर्तशताकुला, पुण्योदयजन्य, निम्नाभिगामिनी, आसन्नलेखकादर्शोन्मुख, आसन्नावसान, संगीतात्मकानन्दोपभोग, बुद्धिनिरीक्षणोपलब्ध, मनोविज्ञानानुमोदित, कृतान्तदन्ताग्रवर्तिजीवित। मनोआत्मचरितात्मकदृष्टिकोण शब्द में व्याकरण की गलती भी है, 'मनो' नहीं होना चाहिए, पर मैं समझता हूं कि शब्द अपने अर्थ में क्षम है, वैयाकरण को ही यहां सन्धि न कर प्रकृतिभाव स्वीकार लेना चाहिए। क्योंकि शब्द ही प्रथम ध्येय है, व्याकरण नहीं। संस्कृत के इन नये गढ़े शब्दों में भी उपाध्याय जी की विनोदप्रियता एवं आलोचक की सहज क्षमता का परिचय मिलता है।

आलोचना-पद्धति अथवा विषय-प्रस्तवन की उपाध्यायजी की अपनी दो प्रखर विशेषताएँ हैं। एक तो यह है कि वे अपनी बात की सत्यता को स्वीकार कराने के लिए प्रयोगात्मक हल रखते हैं और दुरूहता को सरल कर देते हैं। दूसरी बात है कि वे समझने-समझाने के लिए बातों का, उदाहरणों का जो भी विस्तार करें, पर विषय का अनावश्यक विस्तार उनमें नहीं पाया जाता, एक शीर्षक में एक ही विषय अधिकार सम्पन्न होकर बैठता है और आदि से अन्ततक अपनी आवाज में दीप्त रहता है। उनकी आलोचना-पद्धति सिद्धान्त-निर्वचन की है विवरण देने की नहीं। प्रत्येक प्रघटक अपनी समाप्ति तक किसी सिद्धान्त या सिद्धान्तांश की सिद्धि में ही परिणत हो जाता है। दोनों पद्धतियों का एक-एक उदाहरण देकर अध्याय की समाप्ति की जाती है।

दुरूह बात को प्रयोगात्मक हल देकर समझाने की प्रवृत्ति उपाध्याय जी में बहुत है और सर्वत्र उनके ग्रन्थों में पाई जाती है। उन्होंने 'गोदान' उपन्यास के मनोवैज्ञानिक उपन्यास बनाये जाने के प्रयोग की भी बात कही है। यहां एक छोटा-सा उदाहरण दिया जा रहा है। देखिए, सामाजिकता के सामने व्यक्ति या उसके अचेतन अन्श का महत्व प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने एक सामान्य प्रयोगात्मक हल रख कर व्याख्यान से छुट्टी ले ली है—
"मेरी कल्पना में इतिहास के इस महामानवी स्वर में कहीं-न-कहीं साइकोग्राफी का बीज मौजूद था। आखिरकार साइकोग्राफी क्या कहती है? यही न, व्यक्तित्व के विकास को कला और सांस्कृतिक संस्थाओं में देखो। इतिहास

का महामानवी स्वर भी यही कहता है कि सब को एक मनुष्य की छाया कहो (Shadow of one man) । फ्रायड ने केवल यही किया कि इस महामानव को नदी के तट पर से उतार कर जल के अन्दर ला बैठाया ।... परिणाम यह हुआ कि जहां पहले एक ही या दो महामानव होते थे, अब अन्दर प्रवेश करने पर सब ही महामानव हो उठे और विचार सर्वसमर्थता (omnipotence of thought) का साम्राज्य कायम हो गया । पहले जहां सामाजिकता के सामने व्यक्तित्व की कोई पूछ नहीं थी वहां व्यक्तिगत या उसके सूक्ष्म अंश, अगोचर, अचेतन अंश की प्रशस्ति गाई जाने लगे ।"[1] व्यक्ति के या उसके अंश के महत्व को सामने लाने के लिए, महामानव को (संस्कृति की) नदी तट से आगे बढ़ाकर उसके जल में बैठाकर देखने की प्रक्रिया पर ध्यान दीजिए ।

अब दूसरी विशेषता पर आइये । उपाध्यायजी की समीक्षा सिद्धान्त-निर्वचन से ही प्रवृत्त होती है, जहां विवरणात्मक लेखा देने का ही प्रसंग है वहां भी आदि, अन्त या मध्य में सिद्धान्त विना मुखर हुए नहीं रहता । अथवा यों कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि उपाध्यायजी ने साहित्य में अनासन्न-लेखकत्व की जिस स्थिति की सराहना की है, वैसे ही उनकी समीक्षा भी अनासन्न विवरण स्थिति की होती है । वे उपन्यास की कथावस्तु को बताते तो हैं पर बीच-बीच में सिद्धान्त की दृष्टि से उसको चिह्नित भी करते चलते हैं । केवल विवरणात्मक अनुच्छेद उनकी समीक्षा में कम पाये जायेंगे । उनमें भी अन्तः से कहीं सिद्धान्त झांक रहा होगा । यह उदाहरण लीजिए, इसमें 'चारुचन्द्र लेख' उपन्यास की कथावस्तु के किसी अन्श का विवरण है, पर अन्तिम वाक्य पूरे अवतरण को सिद्धान्त-निर्वचन में परिणत कर देता है—
"मैं कह रहा था कि राजा इस उपन्यास का नायक है और कथा की वस्तु उसी के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। पर एक-आध स्थान पर उसकी छलकन के छींटे और पात्रों पर भी पड़े हैं और उनमें यह प्रवृत्ति दीख पड़ती है । मेरा संकेत जल्हन अशोकचल्ल से है । इस उपन्यास के पाठकों को याद होगा कि अपनी बाल्यावस्था में जल्हन और अशोकचल्ल दोनों हाहुलीराय के यहां पल रहे थे । हाहुलीराय व्रजेश्वरी के मन्दिर में विजय की प्रार्थना के लिए जाते हैं । वहां कुछ दुर्निमित्तों को देखकर हताश हो जाते हैं । रह-रहकर दीर्घ निःश्वास लेने लगते हैं । इन दोनों बालकों को शंका होती है कि कोई ऐसी बात व्रजेश्वरी मन्दिर में हुई है अवश्य, जिसके कारण हाहुलीराय की यह अवस्था हुई है । चलो चलकर देख आवें । निशीथ के सन्नाटे में ये दोनों बालक

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८१

बरार से आंख सटाकर भीतर का दृश्य देखने लगे। दृश्य बड़ा ही भयानक था। दृश्य से मेरा मतलब नहीं। मेरा उद्देश्य यही दिखलाना है कि यह भी एक Voyeuristic scene है और इसकी रचना दो बालकों को लेकर हुई है। मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि बालकों में यह प्रवृत्ति अधिक होती है।"[१]

उपाध्याय जी की जन्म-भूमि विहार-प्रदेश है; संस्कृत-काव्यशास्त्रियों ने उसे गौड देश कहा है। उनके यहां गौडों के काव्यप्रयोगों और भाषा-प्रयोग पर बड़ी टिप्पणी हुई है। बाण ने "गौडेष्वक्षरडम्बरः" कह कर भाषा के विचित्र प्रयोग के प्रति गौडों का अभिनिवेश बताया है। उनके तीन सौ वर्ष पूर्व आचार्य दण्डी ने भी गौड़ कवियों के भाषा-वैचित्र्य की व्याख्या इसलिए आवश्यक समझी कि वे वैदर्भ कवियों के गुण-सिद्धान्त का जहां-तहां उल्टा आदर्श उपस्थित करते थे।[२] भामह ने भी वैदर्भ कवियों से गौड कवियों को सर्वथा भिन्न बताया है, यद्यपि वे दण्डी के विपरीत गौडों को ऊंचा स्थान देते हैं। ऐसा समझता हूं कि गौड़—साहित्य मनीषियों की भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में उक्त विशेषता जन्मजात होती थी। इधर भी इस प्रदेश में हिन्दी के जो लेखक हुए उनमें इस विशेषता का अंश अक्षुण्ण रहा है। आज की नागरी हिन्दी मूलरूप से मेरठ—कुरुक्षेत्र के आस-पास की बोली है, पर उसके भाषा-गत वैचित्र्य का दर्शन जितना हरिऔध, रामवृक्ष बेनीपुरी, दिनकर, श्यामनारायण पाण्डेय जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार (प्राचीन गौड देश) के समर्थ साहित्य-सर्जकों में है, उतना दिल्ली के आसपास के साहित्यकारों में नहीं है। यही बात समीक्षकवर्य उपाध्यायजी की भाषा में भी देखी जाती है। उनके संस्कृत-पद्धति के गढ़े हुए नये शब्दों में भी, जिनमें विनोदात्मक प्रकृति अन्तर्गूढ़ है, मैं गौड-मार्ग के प्राचीन कवि-भावकों के रक्त का अविच्छिन्न प्रवाह देखता हूँ। उपाध्याय जी ने साजी-संवारी, फुर्तीली, सारयुक्त किन्तु हलके डग रखने वाली, चुस्त बदन, वाचाल तथा विनोद-प्रिय-प्रकृति की भाषा को जन्म दिया है।

---

१. डा० रांगेय राघव : उपन्यास : और मेरी मान्यताएं. पृ० १५२-१५३

२. काव्यादर्श १।४२

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

परिशिष्ट-१

उपाध्यायजी की व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावली

कवि एवं कविता

अचेतन स्तर
अचैतन्य
अतिचित्रण
अध्यात्मवादी
अनुभूति
अनुभूति का ज्ञान
अवबोध गहनता
आत्मनिष्ठ आनन्दानुभूति
आन्तरिक व्यक्तित्व
आनन्द
काव्यतन्त्र
केन्द्रानुगामिता
क्रान्तिकारी कवि
क्रिया-तत्परत्व
क्रियारत
गड्डलिका-प्रवाह
चैतन्य
तात्कालिकता
तोड़पद्धति
दिवास्वप्न
दिव्यभावापन्न (दिव्यमस्तिष्क का सम्पर्क)
देहात्मवादी
नई कविता
नकेनवादी

परस्परालिंगनाबद्धगत्यात्मक
प्राणाधायक तत्व
बहिर्निष्ठ
बहिष्काराश्रित
भाव
भाव-भार
भाव-शक्ति
भाव-शक्ति का ज्ञान
भावाक्रान्त
भाषाक्रान्ति
भाषावाद (अभिधावाद से जरा-सा एक कदम पीछे)
मनोविश्लेषणात्मक
विरोधाश्रित
विशिष्ट भाषा
वैदग्ध-भंगि-भणिति
व्यक्ति (लेखक)
व्यक्तित्वेतर
शब्दातीत
सन्तुलन
सर्वगामिनी
स्वप्नतत्व
स्वप्नतन्त्र

कथा साहित्य

अग्रदीप्तात्मक
अग्रदीप्ति पद्धति
अचेतन
अज्ञातावस्था
अनासन्न लेखकत्व
अन्तर्मुखी
आचरणवादी
आत्मनिष्ठ
आत्मकथात्मक पद्धति (पात्रचरितात्मक)

आत्मपुरुपात्मक (उत्तम पुरुपात्मक) शैली
आन्तरिक-स्वगतोक्ति-परक उपन्यास
आसन्नलेखकत्व
आसन्नलेखकादर्शोन्मुख
क्रमोच्छेदकपद्धति
क्रियारत
क्रिया-तत्परत्व
घटना-प्रधान (उपन्यास)
घटना-विहीन (उपन्यास)
चिन्तन-रत मानव
चेतन
चेतना-प्रवाह पद्धति
ज्ञातावस्था
धर्माचरणवादी-मनोविश्लेपरणात्मक (उपन्यास)
नायक-विहीन (उपन्यास)
पूर्वदीप्तात्मक
पूर्वदीप्ति दृष्टि
पूर्वदीप्ति पद्धति
प्रकृतवाद
प्रभावानुभाव
प्राणवेग
बहिर्मुखी
भावात्मक विघटन
मण्डूकप्लुति
रहस्य-दर्शन-आनन्द (रसास्वाद)
रहस्य-दर्शन-पद्धति (वायरिस्टिक पद्धति)
वस्तुनिष्ठ
वाचिक-पूर्वस्तर
वाचिक-स्तर
वार्तालापी (उपन्यास)
विद्या-अर्थ-चिन्तनवादी (उपन्यास)
विश्लेपरणात्मक

विश्रृङ्खल उपन्यास
विषय-विहीन उपन्यास
संश्लेषणात्मक
स्थानान्तरीकरण
स्वगतोक्ति

आलोचना

अचेतन की भाषा
अचेतनस्तर
अतीतकालीनता
अर्ध-वैयक्तिक
आत्मप्रकाश
आत्मबोध
आन्तरिक ज्ञान
ऐतिहासिक आलोचना (युगपरिस्थितिनिष्ठ-परीक्षण)
काव्येतरज्ञान
क्रियारतमानव
दृष्टि संकोच
नई आलोचना
परकाया-प्रवेश कला
पलायनवादिता
पाठात्मकविश्लेषण
प्रतिक्रियातत्परत्व
प्रत्यभिज्ञान
प्रभावात्मक भ्रान्ति
मध्यवर्ती ज्ञान
मन:शारीरिक दृष्टिकोण
मनोविश्लेषणात्मक
मिथ्याभेदी
मूलभाव का प्रश्न
मूल्यवत्ता
वेदनाविवृति

व्यक्तिनिष्ठपरीक्षण
शाश्वतत्व
शाश्वतवाद
समकालीनता
सम्यक् प्रश्न
सम्यगालोचन
सस्तापन
सापेक्षतावाद
सार्वभौम
साहित्येतर
सूक्ष्मेक्षिक अध्ययन
स्वतः पूर्णता

———

परिशिष्ट–२

कुछ उद्धरण

यहां डा० श्री देवराज उपाध्याय के आलोचना-ग्रन्थों से कुछ चुने हुए उद्धरण दिये जा रहे हैं। उनको विषय-क्रम से रखा गया है। ये सूत्र जैसे ही हैं, इनके द्वारा विषय के विस्तार की झलक मिलेगी। जिन ग्रन्थों से इनका चयन किया गया हैं, उनके संक्षिप्त संकेत ये हैं—

(१) साहित्य तथा साहित्यकार—सा० सा०

(२) आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान।
—आ० हि० क० मनो०

(३) साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—सा० मनो० अ०

(४) डा० रांगेय राघव : उपन्यास और मेरी मान्यतायें
डा०रां०···मा०

(५) जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
—जैनेन्द्र···मनो० अ०

कवि एवं कविता

कवि की प्रतिभा में ऐसी क्षमता होती है कि वह अंश में भी पूर्ण का प्रतिबिम्ब देख सकती है, उसके लिये समग्रता को दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह प्रत्येक वस्तु को समग्रता में ही देख लेती है। उसके लिए किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता नहीं होती, जो कुछ मिलता है वही उसके लिए आधार बन जाता है। (जैनेन्द्र····मनो० अ०)

काव्य-प्रक्रिया में वस्तु का बहुत महत्व है। महत्वपूर्ण वस्तु महत्वपूर्ण काव्य। वस्तु की महत्ता ही काव्य की महत्ता की कसौटी है। मीमांसक वस्तुवादी होते हैं और यही वस्तुवादिता प्राचीन कथा-साहित्य पर छाई हुई थी। (आ० हि० क० मनो०)।

कवि तथा कविता को एक बात मान लेनी होगी कि उनका काम ज्ञान-दान नहीं, अनुभूति-दान है। कवि के पास कवि के रूप में ज्ञान नामक एक चुटकी भी चीज नहीं है, सब विज्ञान ने ले लिया है। (सा० सा०)

कविता कितना ही झुके, दिवास्वप्न कितना ही ऊँचा उठने का प्रयत्न करे, दोनों की खाई पाटी नहीं जा सकती। दोनों में पार्थक्य रहेगा ही। (सा० सा०)

मैं अभिव्यक्ति में सफल इसलिए रहा कि मेरी अभिव्यक्ति शीघ्र दूसरों पर चोट कर सकती है, उन्हें प्रतिक्रिया—तत्पर कर सकती है।

(सा० सा०)

कविता में दो ही चीजें होती हैं—भाषा और भाव।

(सा० मनो० अ०)

भाषाप्रयोगवैशिष्ट्यमेव काव्यलक्षणम्।

भाषाप्रयोग की विशिष्टता ही काव्य है। (सा० मनो० अ०)

मैं छायावादी कवियों को भी क्रान्तिकारी कहने के लिए तैयार हूँ, क्योंकि उनमें और कुछ भले ही न हो पर उनकी प्रतिभा की आँच में पड़कर खड़ी बोली गलकर मोम—सी हो गई। (सा० मनो० अ०)

वास्तव में आज का कवि ही सच्चे स्रष्टा होने का दावा कर सकता है, वही सच्चा विधायक है जो बनी चीज में नहीं पर सृजन-क्रिया में रुचिवान है। (सा० मनो० अ०)

सखि ! इस गर्व में मत भूलो कि तुम्हारे कपोलों पर अपने प्रिय के हाथों की बनाई मकरी रचना सुशोभित हो रही है। कोई अन्य स्त्री भी इसी तरह के भाग्य का भाजन हो सकती थी यदि सात्विक भाव वेपथु का आविर्भाव अन्तराय के रूप में उपस्थित नहीं हो जाता। यदि यही बात नई कविता प्राचीन कविता से कहे तो उसका क्या उत्तर हो सकेगा ?

(सा० मनो० अ०)

यह मानसिक अवस्था भाव से कुछ आगे की और बुद्धि से कुछ पीछे की अवस्था है। इसे Psuedo reason की अवस्था कह सकते हैं और इसी अवस्था से पात्र परिचालित होता है। मेरे जानते इसी मानसिक अवस्था के स्तर पर महान् कवियों और साहित्यकारों का अवतरण होता है। बुद्धि उसे जकड़ देती है, भाव उसे उच्छृंखल बना देता है। दोनों ही अवस्था में कोई सृजनात्मक काम नहीं हो सकता। पहली अवस्था में बड़े-बड़े तर्क-शास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा वैज्ञानिक सूत्रों की रचना हो सकती है। दूसरी अवस्था में बड़े सुन्दर-सुन्दर और मनोरंजक दिवास्वप्न उपस्थित हो सकते हैं, परन्तु साहित्य की रचना नहीं हो सकती। (डा० रां०....मा०)

उपन्यास

उपन्यासकार नहीं, स्वयं उसकी रचना बोलती है। नहीं बोलती है तो उसे बोलना चाहिए। (डा० रां०…मा०)

रहस्यदर्शन सृजन की पहली शर्त है। (डा० रां०…मा०)

जितने सृजनशील साहित्यकार होते हैं वे नैसर्गिक रूप में वायर होते हैं।(डा० रां०…मा०)

युवावस्था शक्ति का नाम है, वह चाहे भोग की ओर प्रवृत्त हो या योग (त्याग) की ओर। युवक भोग करते हैं जरूर, पर त्याग भी कर सकते हैं। (जैनेन्द्र…मनो० अ०)

आज के कथाकार की रचना का आधार मनुष्य की आन्तरिक मानसिक सत्ता और क्रियाएं होती हैं। (जैनेन्द्र…मनो० अ०)

उपन्यास से लेखक की उपस्थिति एकदम हटा ली जाय, क्योंकि ज्यों ही यह भावना पाठक के हृदय में उत्पन्न हुई कि उसके और उपन्यास में वर्णित चेतना-प्रवाह के बीच में कथाकार आ गया है अर्थात् चेतना का वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं हो रहा है और जो कुछ प्राप्त हो रहा वह कथाकार के द्वारा तैयार किया हुआ कृत्रिम रूप है, त्यों ही उपन्यास के प्रति उसके हृदय में आस्था नहीं रह जाती।

(जैनेन्द्र…मनो० अ०)

पुराने उपन्यासों में पाठक उपन्यास के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता था और उसी के द्वारा वह अपने उपन्यास से सम्बद्ध हो जाता था। राम और रावण को लेकर लिखे गये उपन्यास में वह राम का साथ देगा, रावण का नहीं। परन्तु आज के उपन्यास में राम-रावण का प्रश्न ही नहीं उठता। (जैनेन्द्र…मनो० अ०)

मनोवैज्ञानिक उपन्यास के सम्पर्क में आते ही पाठक के हृदय में ऐसी भावना होने लगती है कि उसे किसी घटना, कहानी या पात्र का परिचय नहीं प्राप्त हो रहा है बल्कि उसका सीधा सम्बन्ध पात्रों की मानसिक तरल धारा के साथ हो रहा है। (जैनेन्द्र…मनो० अ०)

वह कवि ही क्या जिसने पाठक को भी कवि नहीं बनाया और वह

कथाकार ही क्या जिसने अपने पाठक को भी कथाकार नहीं बना दिया ।

(जैनेन्द्र···मनो० अ०)

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की आत्मनिष्ठता स्वयं बोलती हुई होती है ।

(जैनेन्द्र···मनो० अ०)

एक सच्चा लेखक परपीडन-प्रेमी और आत्मपीडन प्रेमी दोनों होता है । (जैनेन्द्र···मनो० अ०)

ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि कलाकार अपनी कला के द्वारा अपने अन्तस् को ही, अपने आपको ही छन्दोमय करने का प्रयत्न करता है (छन्दोमयमात्मानं कुरुते) । यदि साहित्य को, उपन्यास जिसका प्रमुख अंग है, कला की श्रेणी में ही रखें तो यह निश्चित है कि उसके जीवन के छन्द को, उसकी विचारधारा को, उस अन्तर्मूलक प्रकृति को, जो उसके कार्यकलाप को रूप देती है, हम वहां पायेंगे ही । क्योंकि उपन्यासकार वहीं सफल हो सकता है या उसी अंश में सफल होता है, जिस अनुपात में वह अपने पात्रों के साथ अपनी अस्मिता स्थापित कर सका है अथवा अपने पात्रों में प्रवेश कर स्वयं बोल रहा है ।

(जैनेन्द्र···मनो० अ०)

हम प्रतीक्षा करें । उपन्यास मरेगा जरूर, पर इसके पूर्व वह अवश्य ऐसी चीज दे जायगा कि लोग बहुत दिन तक उसे याद करते रहेंगे ।

(जैनेन्द्र···मनो० अ०)

आपका चेतन जिस अनुपात में किसी बात के प्रति उदासीनता, वैराग्य या घृणा के भाव प्रदर्शित करता है, उसी अनुपात में आपका अचेतन उसके प्रति आसक्ति और मोह के भाव पोषित करता रहता है ।

(जैनेन्द्र···मनो० अ०)

हमारी सभ्यता के लिए उपन्यास को वही स्थान प्राप्त है जो प्राचीन युग में लोक-कलाओं (फोक आर्ट) को था । (आ० हि० क० मनो०)

आधुनिक युग विशृंखलता तथा बिखराहट का है । कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती, जिस पर अंगुली रखकर निश्चयपूर्वक

कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्वसाधारण रूप में प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक् कर देता हैं। उपन्यासों के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है।

(आ० हि० का० मनो०)

उपन्यास ही एक ऐसी विधा है, जिसमें सभ्यता के विकास के साथ बाहर से विकसित होने वाले परन्तु अन्दर ही अन्दर बंधते जाने वाले मानव की आन्तरिक जटिलता को स्पष्ट करने की सबसे अधिक क्षमता है।

(आ० हि० का० मनो०)

मैं उस लेखक को अधिक महत्व नहीं देता जो एक सत्य के लिए पचासों झूठ कहता है। (सा० सा०)

प्रायः सब आख्यानात्मक साहित्य वर्णन और दृश्य के संयोग से निर्मित होता है। यदि वर्णन न हो तो रचना नाटकीय तो हो सकती है, परन्तु उसमें आख्यानात्मकता नहीं आ सकती और दूसरी ओर यदि दृश्य न हो तो उसमें कलात्मकता नहीं आ सकती। (सा० मनो० अ०)

आलोचना

यदि व्यक्ति के वास्तविक चरित्र को जानना है तो उसके अचेतन की भाषा को समझना चाहिए। (सा० मनो० अ०)

आत्माभिव्यक्ति तथा कलात्मक अभिव्यक्ति कभी एक नहीं।

(सा० मनो० अ०)

हृदय की गहराई का जहां तक चित्रकला से सम्बन्ध है वहां तक यह कहा जा सकता है कि भारत की प्रतिभा ने इस क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता की पूरी-पूरी रक्षा की है और आजादी के साथ अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति भी की है। भारतवर्ष के सच्चे और वास्तविक आत्मस्वरूप की उपलब्धि यहीं पर अधिक रूप में हुई है, शायद उससे भी अधिक, जितनी साहित्य के क्षेत्र में हुई हो। (जैनेन्द्र…मनो० अ०)

जब कविता नई हो गई तो आलोचना नई क्यों न हो। प्रत्येक साहित्यिक विचारधारा में परिवर्तन अपनी आलोचना पद्धति में परिवर्तन लाता ही है। अतः नई कविता के लिए नई आलोचना बिलकुल असंगत बात नहीं। (सा० मनो० अ०)

नई आलोचना ले-देकर वहीं पहुंच रही है जहां कुन्तक पहुंचे थे अथवा पहुंचने की चेष्टा कर रहे थे। यह तो आलोचना का दुर्भाग्य रहा कि रस तथा ध्वनि पर प्रलुब्ध आलोचक-वृन्दों के हृदय तथा मस्तिष्क पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त अधिकार नहीं कर सका। (सा० मनो० अ०)

साहित्य के लिए तन्मयीभवन योग्यता ही यथेष्ट मानी गई है तन्मयी-भाव नहीं। (सा० मनो० अ०)

लेखक के मूलभाव का प्रश्न उठना ही भ्रामक है। (सा० मनो० अ०)

साहित्य की महत्ता को नष्ट करने वाली चीज भूल नहीं है परन्तु दृष्टि-संकोच है, यह नहीं कि वह गलत निष्कर्ष पर पहुंचता है, परन्तु यह कि वह अनुभूति के द्वार को हमारे लिए कितना अवरुद्ध कर देता है।

(सा० मनो० अ०)

मैं साहित्य के मूल्यांकन के समय यही देखना चाहूंगा कि साहित्य का प्रणेता कितना महान् व्यक्ति है ? (सा० मनो० अ०)

हम भूल जाते हैं कि साहित्यकार साहित्य से कहीं अधिक महान् है। (सा० सा०)

हम सिद्धान्त पक्ष को नहीं देखते। उपलब्धि को नहीं देखते, साध्य को नहीं देखते। पर देखते यह हैं कि सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए मस्तिष्क को कितनी अग्नि-परीक्षाओं से होकर गुजरना पड़ा है, कितना त्याग और बलि-दान करना पड़ा है। (सा० सा०)

मैं मानता हूं कि शाश्वतता और मूल्यवत्ता में सम्बन्ध अवश्य है।

(सा० मनो० अ०)

साहित्यिक मूल्य तात्कालिक प्रभाव से नहीं जाना जा सकता।

(सा० मनो० अ०)

साहित्य आपको तात्कालिकता के झोंके देकर आन्दोलित नहीं करता, वह आपको जरा-सा स्पन्दित करता है। वह आपमें कार्य करने की मनोवृत्ति पैदा करता है। (सा० मनो० अ०)

साहित्य में आत्मबोध और आत्मप्रकाश दोनों क्रियाएं साथ-साथ होती हैं। (सा० मनो० अ०)

समालोचना का कार्य भी एक तरह से आलोच्य वस्तु में अन्तर्निहित रमणीयता के उद्घाटन के सिवा और क्या है? आलोचकों ने समय-समय पर काव्य के दोषों का भी उल्लेख किया है, उसकी त्रुटियों की ओर भी निर्देश किया है पर उनका उद्देश्य यही रहा कि इनके सहारे काव्य के उज्वल पक्ष को ही प्रकाशित किया जाय। (सा० मनो० अ०)

ऐसे कविजन विरल हैं, जिनकी कविता विश्व-कुतूहल की तरह विश्व के सब विद्वानों के मुखों पर विचरण करती हो। उसी तरह कहा जा सकता है कि वह आलोचना-दृष्टि विरल है जो अपनी व्यापकता में जंगल और वृक्ष दोनों को समेट लेती हो। (सा० मनो० अ०)

———

परिशिष्ट–३

उपाध्याय जी की कृतिया

१. साहित्य की रेखा——१९४३
२. रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र (१९५१)
३. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६)
४. कथा के तत्व (१९५७)
५. विचार के प्रवाह (१९५८)
६. बचपन के वे दिन (१९५९)
७. साहित्य तथा साहित्यकार (१९६०)
८. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (१९६४)
९. डा० रांगेय राघव : उपन्यास और मेरी मान्यताएं (१९६७)
१०. जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (१९६८)

सम्पादित

१. निष्ठा (रवीन्द्र विशेषांक) (१९६१)
२. अध्ययन और अन्वेषण (१९६६)
३. साहित्यिक अनुसन्धान के प्रतिमान (१९६९)
४. विदग्धमुग्धमण्डन

अनूदित ग्रन्थ

१. कार्ल एण्ड अन्ना — ले० लियोनार्ड फ्रैंक
२. इंडिया आफ माई ड्रीम्स — ले० महात्मा गांधी
३. कल्चरल प्रोब्लेम्स आफ इंडिया — ले० पी० टी० राजू

———